भूमिका*

'लेप्रसी' यानी कोढ, रक्तपित्त या महारोग की जानकारी हिन्दुस्तान मे तथा ससार के दूसरे भागो मे बहुत पुराने समय से—ईस्वी सन् के दो-तीन हजार वर्ष पहले से, होने के प्रमाण मिलते है। यह कोई मामूली रोग होता और मनुष्य-जाति को विशेष पीडा या क्लेशप्रद न होता तो इसके बारे मे बहुत सोचने-विचारने की जरूरत नही थी। परन्तु अत्यन्त दु:खदायी और मानसिक पीडा उपजानेवाले जो रोग है यह तो उनमे से एक है।

यह सब देशो मे किसी भी फिर्के के लोगो मे होता है। यद्यपि दीन-दुर्बलो को यह अधिक सताता है, पर धनियो के साथ भी यह रत्ती-भर भी रिआयत नही करता। यदि कोढियो मे पुरुषो की सख्या अधिक है, तो यह समाज-रचना का परिणाम है, इससे यह नही समझना चाहिए कि इस रोग से स्त्रियो के लिए किसी तरह की निर्भयता या छूट है। छोटे बच्चो के शरीर में रोग-निवारण की शक्ति की बिल्कुल कमी, और बचपन मे आवरण त्वचा और श्लेष्मल त्वचा के कोमल और नाजुक होने के कारण, जैसे कोढी के नजदीक रहने से बच्चो को यह बीमारी लग जाने का पूरा डर रहता है, वैसे ही असावधानी से कोढी के निकट सस्पर्श मे रहने से युवा स्त्री-पुरुषो को भी यह रोग लग सकता है। यद्यपि कोढियो की सन्तान जन्म के समय से ही कुष्ठ-पीडित नही होती, और जन्म के बाद ही रोग-पीडित माता-पिता से

---

* यह भूमिका ब्रि. ए. लेप्रसी रिलीफ एसोसियेशन की सी. पी और बरार प्रांतिक शाखा के एक्जिक्यूटिव कमेटी के चेयरमैन, कर्नल सर क्. वि कुकडे, सी आई. ई., आई. एम् एस्, एल एम् एंड एस् (बंबई) एल् आर. सी पी एंड एस् (एनिबरा) रिटायर्ड इन्स्पेक्टर जनरल आफ् सिविल हास्पिटल्स सी. पी ने लिखी है।

जिस राष्ट्र ने विशेष रूप से ध्यान देकर इसे उखाड फेकने मे या इसके फैलने देने के खिलाफ शास्त्रानुकूल और प्रभावकारी उपायो पर अमल किया, उसे इस रोग का समूल नाश करने मे बडी सफलता मिली। इस प्रकार आज इग्लैण्ड, फ्रास, जर्मनी, नार्वे आदि राष्ट्रो ने इस रोग के रोकने का जहाँतक हो सका, पूरा प्रबन्ध किया है। कभी-कभी वहाँ कुछ रोगी जो देखने मे आते है, वे इस रोग को दूसरे देशो से लाये हुए होते है।

पहले कहा जा चुका है कि हिन्दुस्तान में इस रोग की जानकारी प्राचीन समय से है। इस रोग का दवा-पानी भी होता रहा होगा। पर रोग को रोकने का विशेष उपाय तो रोगी को अलग रखना ही था। उपाय कोई भी काम मे लाया गया हो, यह सही है कि उससे रोग अपेक्षित रूप से रुका नही।

हिन्दुस्तान मे इधर बहुत सालो से क्रिश्चियन मिशनरी लोग धर्म-परायणता और भूतदया से प्रेरित होकर कोढियो का दुख दूर करने की कोशिश मे लगे है। उनका उद्देश्य बीमारो का सिर्फ शारीरिक ही नही, बल्कि आध्यात्मिक दुख निवारण करना भी होता है। सन् १९२५ ईस्वी मे ब्रिटिश एम्पायर लेप्रसी रिलीफ एसोसिएशन की हिन्दुस्तान की मुख्य शाखा अर्थात् इडियन कौसिल हिन्दुस्तान की राजधानी मे स्थापित हुई और उसकी शाखाएँ हर प्रान्त मे खोली गई और इस काम के लिए एक खासी रकम एकत्र की गई। सम्प्रति यह इडियन कौसिल और इसकी उपशाखाएँ, प्रान्तीय सरकारे, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और करुणात्मक कार्य मे हार्दिक रस लेने-वाले विभिन्न प्रान्तो के कुछ नागरिक अथवा उनके द्वारा स्थापित की गई निजी संस्थाए, सब मिलकर इस देश से कोढ को निर्मूल करने के लिए यथाशक्य प्रयत्न कर रहे है।

उनकी कोशिशो का थोड़े मे कुछ हाल नीचे दिया जाता है—

(१) रोग की उत्पत्ति, उसके फैलाव और उपचार के बारे मे

नही करते। वास्तव मे देखा जाय तो कोढियो मे काम करते हुए बहुत सफाई से रहने, कोढियो को अपने खानपान की चीजे, बर्तन-भाडे, कपडे-लत्ते वगैरह न छूने देने, अपने शरीर पर कोई घाव हो तो उसको बचाने, अथवा उतने दिन अपना काम वन्द रखने की सावधानी रखलेने पर डाक्टरो अथवा रोगियो की सेवा करनेवालो को छूत शायद ही लगती है, यह अनुभव है। पर बहुतो का खयाल है कि इस रास्ते मे न पडना ही सबसे अच्छा है। यह होते हुए भी मध्य-प्रान्त के वर्धा कस्वे मे कुछ विख्यात समाजसेवको ने सन् १९३६ ईस्वी मे "महारोगी (कोढी) सेवा मडल" नामक सस्था स्थापित की। इस सस्था की ओर से डा० महोदय, एम. बी. बी एस, और श्री मनोहरजी दिवाण ने कोढियो के बारे में मत-प्रचार, उपचार और जांच करनेवाला एक केन्द्र येलीकेली मे खोलकर प्रत्यक्ष कार्य आरम्भ कर दिया है। काम की बाढ की वजह से उन्हे शीघ्र ही वायगांव मे दूसरा केन्द्र स्थापित करना पडा। श्री दिवाण डाक्टर नही है, तथापि इस भूतदया के काम के लिए उन्होने अपना तन-मन-धन अर्पण करके कामचलाऊ सारा औपपत्तिक और व्यावहारिक ज्ञान हिन्दुस्तानी मिशन के चांदखुरी और पुरलिया के खास कोढीखानो मे रहकर प्राप्त किया है। कलकत्ता के स्कूल आफ ट्रापिकल मेडिसन का लेप्रसी कोर्स भी उन्होने पूरा किया है। इस मण्डल को तथा इसके काम को मध्यप्रान्तीय सरकार के पब्लिक हेल्थ डिपार्टमेण्ट की मजूरी भी मिल गई है।

यह पहले कहा जा चुका है कि अपने देश से कोढ को दूर करने का यत्न करनेवाले कार्यकर्ता, स्वय रोगियो और सुशिक्षित जनता को इस रोग की साधारण शास्त्रीय जानकारी करा देना एक खास काम है। इस ज्ञान के फैलाने का काम करते समय श्री दिवाण को यह अडचन जान पडी कि इस विषय पर मराठी मे कोई किताब नही है। इस कमी की पूर्ति के लिए उन्होने अपनी सर्वदा की उत्साहवृत्ति से यह पोथी लिखने का काम हाथ मे लिया। यह पुस्तक डाक्टरो के लिए नही लिखी

निवेदन

कुष्ठ (कोढ) का नाम हिन्दुस्तान में वैदिक* कालसे सुना जाता है, और उसके इलाज के लिए चालमुग्रा तेल का उपयोग भी उतने ही पुराने जमाने से होता चला आता है। दूसरे देशो मे तो यह रोग खतम होने आया, लेकिन हिन्दुस्तान मे अभी इसकी जड जमी हुई है। प्रान्तीय भाषाओ मे इस विषय की कोई मान्य पुस्तक नही है। हम म्यूर, लो, वेड, मिट्सुदा या हयाशी सरीखे कोढ रोग की जानकारी रखनेवाले किसी भारतीय अन्वेषक का नाम नही पेश कर सकते। इस रोग के रोगियों का दुख दूर करने को अपना सर्वस्व दे डालनेवाले फादर डैमियन जैसे लोग हमारे यहाँ नही मिलते। कुछ विदेशी भाई है जो कोढियो के लिए हमारे देश मे स्वार्थत्यागपूर्वक कई सस्थाएँ चला रहे है। हिन्दुस्तानियो की खोली हुई सस्थाएँ तो अगुलियो पर गिनने-भर को भी नही है। यह नही है कि हिन्दुस्तान मे भूतदया, सेवा की भावना और अन्वेषक बुद्धि का अभाव हो। फिर यह उदासीनता क्यो? अपने १५—२० लाख भाई जीते जी मौत से भी बदतर रोग मे पडे सडा करें और हम चुपचाप आँखें खोले देखते रहें, यह 'दया' का मजाक ही तो है या और कुछ?

इस पुस्तक का उद्देश्य इस हालत को बदलना है। यह बात होगी

---

* सुश्रुत-संहिता में कुष्ठ, वातरक्त, रक्तपित्त इत्यादि रोगो का जिक्र है। उसमें साधारण त्वचा-रोगो के लिए 'कुष्ठ' शब्द बर्ता गया है। फिर उसके 'महाकुष्ठ', व 'क्षुद्रकुष्ठ' नाम से दो भाग करके क्रम से ७ और ११ उपभेद किये गये है। उनमें 'अरुणकुष्ठ' के लक्षण आज जिसे कोढ़ कहते है उससे मिलते-जुलते जान पड़ते हैं। इस पुस्तक में सब जगह इसके लिए कोढ़ शब्द बर्ता गया है।

गई है। वल्कि इसका कार्य-क्षेत्र ऐसा रखा गया है कि इसमे की शास्त्री और व्यावहारिक जानकारी कोढियो मे काम करनेवाले और साधारण जनता को करा देना, इसके प्रतिवन्ध के काम मे गडवड़ करने से होनेवाली जोखिम लोगो को सुझा देना और इस रोग को नेस्तनावूद करने के लिए किसी खास मौके पर कुछ असुविधाजनक और कष्टकर उपाय की योजना हो तो सारे समाज की सहानुभूति और सहकारिता प्राप्त होने मे उपयोगी होना। मुझे आशा है कि इस पुस्तक से उपर्युक्त उद्देश्य वहुत अशो में सिद्ध होगे। मेरी समझ मे श्री दिवाण ने अपने इस परिश्रम से समाज को अपना ऋणी वनाया है।

श्री दिवाण ने इस उपयुक्त पुस्तक के लिए भूमिका लिखने का मान मुझे दिया, इसके लिए मै उनका कृतज्ञ हूँ। अन्त मे यह चाहता हूँ कि उनके इस प्रशसनीय उद्योग को जनता का पूरा-पूरा आश्रय मिले और उनके प्रयत्न से कम-से-कम उस हिस्से मे, जहाँ वह काम कर रहे है, इस अत्यन्त क्लिष्ट और दु खदायक व्याधि का समूल नाश हो।

नागपुर — कृ० वि० कुकडे।

२ मई १९४०

निवेदन

कुष्ठ (कोढ) का नाम हिन्दुस्तान मे वैदिक* कालसे सुना जाता है, और उसके इलाज के लिए चालमुग्रा तेल का उपयोग भी उतने ही पुराने जमाने से होता चला आता है। दूसरे देशो में तो यह रोग खतम होने आया, लेकिन हिन्दुस्तान मे अभी इसकी जड जमी हुई है। प्रान्तीय भाषाओ मे इस विषय की कोई मान्य पुस्तक नही है। हम म्यूर, लो, वेड, मिट्सुदा या हयाशी सरीखे कोढ रोग की जानकारी रखनेवाले किसी भारतीय अन्वेषक का नाम नही पेश कर सकते। इस रोग के रोगियो का दु ख दूर करने को अपना सर्वस्व दे डालनेवाले फादर डैमियन जैसे लोग हमारे यहाँ नही मिलते। कुछ विदेशी भाई है जो कोढियो के लिए हमारे देश में स्वार्थत्यागपूर्वक कई सस्थाएँ चला रहे है। हिन्दुस्तानियो की खोली हुई सस्थाएँ तो अगुलियो पर गिनने-भर को भी नही है। यह नही है कि हिन्दुस्तान मे भूतदया, सेवा की भावना और अन्वेषक वुद्धि का अभाव हो। फिर यह उदासीनता क्यो ? अपने १५–२० लाख भाई जीते जी मौत से भी बदतर रोग मे पडे सडा करे और हम चुपचाप आँखे खोले देखते रहे, यह 'दया' का मजाक ही तो है या और कुछ ?

इस पुस्तक का उद्देश्य इस हालत को वदलना है। यह वात होगी

---

* सुश्रुत-संहिता में कुष्ठ, वातरक्त, रक्तपित्त इत्यादि रोगो का जिक्र है। उसमें साधारण त्वचा-रोगो के लिए 'कुष्ठ' शब्द बर्ता गया है। फिर उसके 'महाकुष्ठ', व 'क्षुद्रकुष्ठ' नाम से दो भाग करके क्रम से ७ और ११ उपभेद किये गये है। उनमें 'अरुणकुष्ठ' के लक्षण आज जिसे कोढ कहते हैं उससे मिलते-जुलते जान पडते है। इस पुस्तक में सब जगह इसके लिए कोढ शब्द बर्ता गया है।

लोगो मे इस मामले मे जो अज्ञान और वहमी कल्पनाएँ है उन्हे दूर करने से। वास्तव मे तो अज्ञान ही रोग है और ज्ञान ही तारनहार है।

शास्त्रीय आधार को कायम रखकर लौकिक पद्धति से कोढ का सागोपाग सरल विवेचन इस पुस्तक मे किया गया है। यथाशक्य भाषा सरल, प्रकरण छोटे और पारिभाषिक सज्ञाओ का कम इस्तेमाल करते हुए इस अपरिचित और कुछ क्लिष्ट विषय को सुलभ करने की कोशिश की गई है। पुस्तक को आकर्षक के बजाय उद्बोधक और शास्त्रीय की अपेक्षा सुगम बनाने की ओर नजर रक्खी गई है। इसमें मनोरजकता चाहे न हो पर रोगियो के बारे मे सहृदयता है, साहित्य न हो पर सह-हित है। सुशिक्षितो के बजाय सिर्फ भाषा जाननेवाले जिज्ञासु पाठको का खयाल रखकर यह लिखी गई है। इतना मानकर चलना तो अनिवार्य था कि शरीर-विज्ञान का साधारण ज्ञान पाठको को है। पाठको को शारीरिक विज्ञान का प्राथमिक ज्ञान न हो तो अवश्य प्राप्त कर लेना चाहिए। बिना इसके ७वाँ और १७वाँ प्रकरण समझना मुश्किल होगा। त्वचा और मज्जातन्तु की रचना और कार्य के सम्बन्ध की जानकारी इसीलिए खासतौर से इस पुस्तक मे शामिल की गई है।

यह पुस्तक खासकर म्यूर के लेप्रसी, डायग्नासिस, ट्रीटमेट ऐंड प्रिवेशन'की छठी आवृत्ति और लो की 'लेक्चर नोट्स आन् लेप्रसी', इन दो अधिकारी ग्रथो के आधार पर लिखी गई है। कुछ हिस्सा तो उनका भावानुवाद ही है। इसके सिवा राजर्स और म्योर के 'लेप्रसी', 'लेप्रसी इन इडिया' त्रैमासिक के पुराने अको का और डा० टी एन मुकर्जी के 'शार्ट नोट्स' इत्यादि का आवश्यक उपयोग किया गया है। रुग्णक, काल-वृष्ठ, कुष्ठिका, वेधक व्रण इत्यादि कुछ शब्द नये भी गढने पडे है।

इस कार्य मे अनेको ने अनेक तरह की सहायता की है। वर्धा डिस्ट्रिक्ट

प्रसी कौसिल और इडियन कौसिल ने भी यथाशक्य सहकार किया है।
न सबका मडल और मै ऋणी और कृतज्ञ हूँ।

अन्त मे अपने मन की हालत कहूँ तो 'माल मालिक का गुवाल के
ाथ मे लकडी' वाली कहावत है। पुस्तक मे कही कुछ सुझानेलायक
ान पडे तो पाठक जरूर सुझावे। उसपर विचार किया जायगा।

समाज का इस सवाल की ओर ध्यान हो और इस रोग की जड
र हो, यह प्रार्थना है।

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु। सर्वे सन्तु निरामया·।

वर्धा
० अगस्त १९४०

मनोहर बलवन्त दिवाण

लोगो मे इस मामले मे जो अज्ञान और वहमी कल्पनाएँ हैं उन्हे दूर करने से। वास्तव मे तो अज्ञान ही रोग है और ज्ञान ही तारनहार है।

शास्त्रीय आधार को कायम रखकर लौकिक पद्धति से कोढ का सागोपाग सरल विवेचन इस पुस्तक मे किया गया है। यथाशक्य भाषा सरल, प्रकरण छोटे और पारिभाषिक सज्ञाओ का कम इस्तेमाल करते हुए इस अपरिचित और कुछ क्लिष्ट विषय को सुलभ करने की कोशिश की गई है। पुस्तक को आकर्षक के बजाय उद्बोधक और शास्त्रीय की अपेक्षा सुगम बनाने की ओर नजर रखी गई है। इसमे मनोरजकता चाहे न हो पर रोगियो के बारे मे सहृदयता है, साहित्य न हो पर सह-हित है। सुशिक्षितो के बजाय सिर्फ भाषा जाननेवाले जिज्ञासु पाठको का खयाल रखकर यह लिखी गई है। इतना मानकर चलना तो अनिवार्य था कि शरीर-विज्ञान का साधारण ज्ञान पाठको को है। पाठको को शारीरिक विज्ञान का प्राथमिक ज्ञान न हो तो अवश्य प्राप्त कर लेना चाहिए। बिना इसके ७वाँ और १७वाँ प्रकरण समझना मुश्किल होगा। त्वचा और मज्जातन्तु की रचना और कार्य के सम्बन्ध की जानकारी इसीलिए खासतौर से इस पुस्तक मे शामिल की गई है।

यह पुस्तक खासकर म्यूर के लेप्रसी, डायग्नासिस, ट्रीटमेट ऐड प्रिवेंशन'की ६ठी आवृत्ति और लो की 'लेक्चर नोट्स आन् लेप्रसी', इन दो अधिकारी ग्रथो के आधार पर लिखी गई है। कुछ हिस्सा तो उनका भावानुवाद ही है। इसके सिवा राजर्स और म्योर के 'लेप्रसी', 'लेप्रसी इन इडिया' त्रैमासिक के पुराने अको का और डा० डी. एन मुकर्जी के 'शार्ट नोट्स' इत्यादि का आवश्यक उपयोग किया गया है। रुग्णक, काल-कुष्ठ, कुष्ठिका, वेधक व्रण इत्यादि कुछ शब्द नये भी गढने पड़े हैं।

इस कार्य मे अनेको ने अनेक तरह की सहायता की है। वर्धा डिस्ट्रिक्ट

प्रसी कौंसिल और इंडियन कौंसिल ने भी यथाशक्य सहकार किया है। इन सबका मंडल और मैं ऋणी और कृतज्ञ हूँ।

अन्त मे अपने मन की हालत कहूँ तो 'मारू मालिक का गुवाल के हाथ मे लकड़ी' वाली कहावत है। पुस्तक मे कही कुछ सुझानेलायक जान पडे तो पाठक जरूर सुझावे। उसपर विचार किया जायगा।

समाज का इस सुधार की ओर ध्यान हो और इस रोग की जड दूर हो, यह प्रार्थना है।

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु। सर्वे सन्तु निरामयाः।

वर्धा

१० अगस्त १९४०

मनोहर बलवन्त दिवाण

भूतदया का मंत्र और विनियोग

कोढ़ सम्वन्धी जानकारी के लिए मराठी भाषा मे प्राय. यह पहली ही पुस्तक है। प्रत्यक्ष सेवा करते हुए लोक-शिक्षण के निमित्त आवश्यकता देखकर यह लिखी गई है। मुझे आशा है कि इसका ठीक उपयोग होगा। कोढ खास कर गावो का रोग होने के कारण हमारे ग्रामसेवको के लिए यह पुस्तक काम की होगी।

मराठी भाषा मे आज इस विषय पर यह अकेली पुस्तक सामने आ रही है। इसकी वजह है कि कोढियो की सेवा की ओर आज भी हमारा ध्यान नही गया है। जो कुछ थोडा-वहुत सेवा-कार्य चल रहा है वह ईसाई लोग कर रहे है। मानो हमने यह काम ईसाइयो के जिम्मे सौंप रखा है। ईसाइयो के लिए यह भूषण है, पर हमारे लिए वही दूषण है। ऐसा होने का कारण क्या है ? मुझे जान पडता है —हमने 'भूतदया' इस महान् शब्द का उच्चारण किया। ईसाईधर्म ने 'मानवदया' (ह्यूमेनिटी) इस मर्यादित शब्द का उच्चारण किया। 'भूतदया' शब्द का उच्चारण करने की वजह से एक ओर मासाहार-निवृत्ति जैसे वडे प्रयोग हम थोडे-वहुत कर सके, पर दूसरी ओर मानवदया से, जो भूत-दया के पेट मे अपनेआप और प्रथम ही आनेवाली चीज है, हम बेखबर रहे।

इस विसगति से मुक्त होने के लिए भूतदया शब्द छोडने की जरूरत नही है। शब्द महान् है और वही योग्य है। इससे वृत्ति को व्यापक रखने मे मदद मिलती है। पर वृत्ति व्यापक रखकर वर्त्ताव भी विशिष्ट होना चाहिए। आत्मा महान् होने के कारण उसकी मर्यादा बाँधना ठीक नही। पर देह मर्यादित होने के कारण मर्यादा छोड़ना भी

भूतदया का मंत्र और विनियोग

कोढ़ सम्बन्धी जानकारी के लिए मराठी भाषा मे प्राय यह पहली ही पुस्तक है। प्रत्यक्ष सेवा करते हुए लोक-शिक्षण के निमित्त आवश्यकता देखकर यह लिखी गई है। मुझे आशा है कि इसका ठीक उपयोग होगा। कोढ खास कर गावो का रोग होने के कारण हमारे ग्रामसेवको के लिए यह पुस्तक काम की होगी।

मराठी भाषा मे आज इस विषय पर यह अकेली पुस्तक सामने आ रही है। इसकी वजह है कि कोढियो की सेवा की ओर आज भी हमारा ध्यान नही गया है। जो कुछ थोडा-बहुत सेवा-कार्य चल रहा है वह ईसाई लोग कर रहे है। मानो हमने यह काम ईसाइयो के जिम्मे सौंप रखा है। ईसाइयो के लिए यह भूषण है, पर हमारे लिए वही दूषण है। ऐसा होने का कारण क्या है? मुझे जान पडता है —हमने 'भूतदया' इस महान् शब्द का उच्चारण किया। ईसाईधर्म ने 'मानवदया' (ह्यूमेनिटी) इस मर्यादित शब्द का उच्चारण किया। 'भूतदया' शब्द का उच्चारण करने की वजह से एक ओर मासाहार-निवृत्ति जैसे बडे प्रयोग हम थोडे-बहुत कर सके, पर दूसरी ओर मानवदया से, जो भूत-दया के पेट मे अपनेआप और प्रथम ही आनेवाली चीज है, हम बेखबर रहे।

इस विसगति से मुक्त होने के लिए भूतदया शब्द छोडने की जरूरत नही ह। शब्द महान् है और वही योग्य है। इससे वृत्ति को व्यापक रखने मे मदद मिलती है। पर वृत्ति व्यापक रखकर वर्त्ताव भी विशिष्ट होना चाहिए। आत्मा महान् होने के कारण उसकी मर्यादा बांधना ठीक नही। पर देह मर्यादित होने के कारण मर्यादा छोडना भी-

इस नाम से अनेक प्रकार के त्वचा—चर्म-रोगो का उल्लेख होता
होगा । ईस्वी सन् १५० के मध्य मे यहूदी पुस्तको के अनुवाद हुए । उसमें
त्वचा के रोग अर्थात् 'झराथ' का अनुवाद 'लेप्रा' हुआ मिलता है । भूल
मे ऐसा हुआ जान पडता है । यूनान मे हिपोक्रेटिस के जमाने मे कोढ
नही रहा होगा । ईस्वी सन् से पूर्व ३४५ मे अरस्तू के जमाने में कोढ की
साफ-साफ चर्चा मिलती है । उस वक्त कैम्बिसिस, डरायस और जेरकसीज
नामक ग्रीक योद्धाओ की मिस्र और एशियामाइनर मे जो चढाइयां
हुई उनकी वजह से ग्रीस मे उसका आगमन हुआ होगा । प्राचीन अरबी
पोथी-पन्नो में कोढ़ का 'ज्यूदसम' (जुदाम) के नाम से उल्लेख हुआ है ।
उसका भी ऐसी ही भूलभरी कल्पना से अनुवाद हुआ है । पर एक बार
जो 'लेप्रा' शब्द चला, आज भी वह यूरोपीय भाषाओ में चलता
जारहा है ।

ज्यादा बढ़ा हुआ जान पडता है। यह माना जाता है कि इस फैलाव में धर्मयुद्ध का ज्यादा हाथ था। तेरहवी सदी से वह घटना शुरू हुआ। कुछ फुटकर स्थानो को छोडकर सत्रहवी सदी मे यूरोप मे वह नही के बराबर रह गया। हिसाब से एक हजार वर्ष तक यूरोप मे उसका डेरा रहा। यूरोप मे उसके नष्टप्राय होने के कारणो का निश्चय करना कठिन है। तथापि मुख्य दो कारण सामने है—(१) कोढ़ियो को दूसरो से अलग कर देना, (२) रहन-सहन और गाव की सफाई के सार्वत्रिक सुधार। जहाँ इन दोनो उपायो का अमल होने मे देर हुई वहाँ उसके ज्यादा-से-ज्यादा सालो तक टिके रहने के प्रमाण मिलते हैं।

यूरोप मे कोढ के घटने का जो समय था वही पश्चिमी गोलार्द्ध—उत्तर अमेरिका और वेस्ट इण्डीज मे उसके फैलने का। यूरोप से आकर बसनेवाले और अफ्रिका के गुलाम इसके खास कारण थे। दक्षिण अमेरिका मे स्पेनिश और पोर्तुगीज चढाइयो के कारण उसकी पैठ हुई। आगे चलकर नीग्रो गुलाम और चीनियो की वजह से वह ज्यादा फैला।

पिछली सदी के आधे भाग में चीनी औपनिवेशिको की मार्फत पैसिफिक टापुओ मे उसका प्रवेश हुआ जान पड़ता है। हवाई टापू न्यूकैलेडोनिया, लायल्टी, मार्क्वेसास इत्यादि टापुओं मे तो हाल मे उसके पैर पडे है। इन टापुओ में पहले उसका कोई नाम तक नही जानता था। न्यूकैलेडोनिया मे १८६५ के करीब पहला कुष्ठरोगी आया। उसके बाद फिर तो दस वर्षों में ही कही-कही एक-चौथाई से ज्यादा लोगो को उसने अपना शिकार बना लिया। नारू मे तो कोढ का फैलाव वर्तमान पीढी के देखते-देखते हुआ है। वहा वह घुसकर धीरे-धीरे बढ रहा था, पर सन् १९१८ के इन्फ्लुयेंजा के आक्रमण के

इस नाम से अनेक प्रकार के त्वचा—चर्म-रोगो का उल्लेख होता होगा। ईस्वी सन् १५० के मध्य मे यहूदी पुस्तको के अनुवाद हुए। त्वचा के रोग अर्थात् 'झराथ' का अनुवाद 'लेप्रा' हुआ मिलता है। से ऐसा हुआ जान पडता है। यूनान में हिपोक्रेटिस के जमाने मे नही रहा होगा। ईस्वी सन् से पूर्व ३४५ मे अरस्तू के जमाने में कोढ साफ-साफ चर्चा मिलती है। उस वक्त कैम्बिसिस, डरायस रजेरक्सीज नामक ग्रीक योद्धाओ की मिस्र और एशियामाइनर मे जो चढाइया हुई उनकी वजह से ग्रीस मे उसका आगमन हुआ होगा। प्राचीन अरबी पोथी-पन्नो में कोढ का 'ज्यूदसम' (जुदाम) के नाम से उल्लेख हुआ है। उसका भी ऐसी ही भूलभरी कल्पना से अनुवाद हुआ है। पर एक बार जो 'लेप्रा' शब्द चला, आज भी वह यूरोपीय भाषाओ मे चलता जारहा है।

रोमनो मे (इटली मे) ईस्वी सन् पूर्व ६२ में पूर्व की ओर पाम्पी के सैनिको की मार्फत उसने प्रवेश किया। आगे के रोमन इतिहास मे उसकी चर्चा लगातार मिलती है। रोमन साम्राज्य के साथ ही उसने यूरोप के दूसरे राष्ट्रो में भी अपने पाँव फैलाये। ईस्वी सन १८० में उसके जर्मनी मे घुसने का उल्लेख है। ईस्वी सन् ६०० तक इटली और जर्मनी मे सैकडो कोढ-आश्रम (लेपर असाइलम) खुलने की चर्चा मिलती है। स्पेन मे छठवी सदी मे उसका प्रवेश हुआ। जान पडता है रोमन साम्राज्य के पतन के बाद सर्मिन लोग उसे फ्रास मे लेगये। इग्लैंड में पहला कोढ-चिकित्सालय सन् ६३८ मे नटिंघम मे स्थापित हुआ। फिर स्काटलैण्ड, नार्वे, आइसलंट, डेन्मार्क, स्वीडन, रूस इत्यादि देशो में उसका फैलाव हुआ। ईस्वी सन् १००० से १४०० के बीच में कोढ हर जगह था। सन् १२०० के करीब वह ज्यादा-से-

दूसरा प्रकरण

कोढ़ का फैलाव

कोढ आज उष्ण कटिबन्ध* का रोग माना जाता है। और इस समय वह खासकर वही पाया जाता है। पर जैसा कि हम पहले प्रकरण मे कह चुके है, उसके सिवा भी वह बहुत देशो मे था और है। इस समय मध्य-अफ्रिका, हिन्दुस्तान, चीन और दक्षिण अमेरिका मे उसका खासतौर से अड्डा है। अधिक-से-अधिक रोग-ग्रस्त हिस्से उष्ण कटिबन्ध मे पडते है। पर शीत-कटिबन्ध मे भी वह पाया जाता है। ग्रीनलैण्ड, आइसलैण्ड, नार्वे, बाल्टिक समुद्र के किनारे के देश, कनाडा—ये सभी शीत कटिबन्ध में है। उनमे आज भी कोढ मौजूद मिलता है। सम-शीतोष्ण प्रदेशो मे वह कभी पूरी तौर से था। भिन्न-भिन्न कारणो से वहाँ आज कम हो गया है। तापमान, नमी और घनी जनसख्या उसके फैलाव के लिए अनुकूल है। ये सब बाते उष्णकटिबन्ध के कुछ हिस्सो मे पाई जाती है। उसके फैलाव मे सामाजिक रीति-रवाजो का भी बहुत-कुछ हाथ है। विशेषत. विषयातिरेक और व्यभिचार कोढ के फैलने मे मददगार होते है। अफ्रिका और पैसिफिक टापुओ के आदिनिवासियो और वैसे ही हिन्दुस्तान के पिछडे हुए वर्ग मे इस प्रकार से इस रोग के शिकार हुए लोग बहुतायत से पाये जाते है। चीन मे, खासकर दक्षिण की ओर घनी बस्ती वाले उष्ण प्रदेश में, कोढ पाया जाता है। वहाँ गन्दी परिस्थिति मे, तग जगह मे, निकृष्ट रहन-सहन मे जिन्दगी बितानेवालो की सख्या अधिक है। अफ्रिका मे नाइजेरिया और बेल्जियन कागो और दक्षिण अमेरिका में ब्रेजिल मे भी इन्ही कारणो से उसका कोप रहा है।

---

* पृथ्वी का वह भाग जो कर्क और मकर रेखाओ के बीच में पड़ता है।

बाद तो एकदम सपाटे से बढने लगा। कुछ ही सालो मे बीस हजार आदमियो को उसने बदशकल बना दिया। हा रोग का स्वरूप सौम्य था। इसका प्रकोप तो शीघ्र ही रुक गया। अब वह कमी पर है।

आज अल्पाधिक प्रमाण मे कोढ ससार के बहुतेरे देशो मे पाया जाता है।

इस इतिहास से मालूम होता है कि कोढ कुछ देशो मे हजारो वर्ष से अड्डा जमाये बैठा है। बीच-बीच मे वह दूसरे हिस्से मे जाता है वहा वह लम्बे काल की सक्रामकता का रूप पकडता है और फिर घटता है। इतिहास और आधुनिक खोज से यह सिद्ध होता है कि यह रोग सस्कृति की विशिष्ट अवस्था और सामान्य रहन-सहन के सुधार एवं कमी-बेशी पर निर्भर रहनेवाला है। खासकर इसके फैलाव का खास कारण झुण्ड-के-झुण्ड मनुष्यो का स्थानान्तर करना है। रोगरहित देशो मे जानेवाली सेना, गुलाम और मजदूरो की वजह से यह पसरता है। इसके पुष्ट होने अथवा नेस्तनाबूद होने के रुख का भी इतिहास से पता चलता है। समूचे समाज का रोग की रोकथाम के लिए सीधे पर आवश्यक उपाय काम मे लाना, समूचे समाज का रोग के स्वरूप के बारे मे सचेत होना और समूचे समाज की रहन-सहन की पद्धति के बारे मे सुधार होना इसकी जड खोने की प्रधान शर्ते है।

दो-चार केंद्रो मे ही—रहने की थी। पर जबसे
ाधन बढे और फैले, कल-कारखानो की बाढ़ हुई,
परिक व्यवहार बढा, बडी तादाद में लोगों का इधर
सान हुआ, तबसे अलिप्त हिस्से में भी रोगग्रस्त हिस्से
लने की सुविधा होगई।

तीसरा प्रकरण

रोग का दायरा

ान मे कोढ के दायरे को चार शीर्षको मे बाँटा जाना
(१) स्थान, (२) रोग का प्रकार, (३) उम्र, (४)
द।

स्थान

दुस्तान में कोढ़ कहाँ कितना फैला है, यह जानने के लिए मर्दुम-
के अंको के सिवा दूसरा साधन हमारे पास नहीं है। पिछले दस
कोढ़-सबधी जाच का काम हिंदुस्तान के काफी हिस्सो मे हुआ
१ की मर्दुमशुमारी में कोढ़ियो की तादाद १,०२,००० थी।

हिंदुस्तान में फैलाव

हिंदुस्तान के एक वडे हिस्से मे कोढ ने अपने हाथ-पाव फैला
है। आदिनिवासियो में वह पुराने जमाने से चलता आरहा है।
रोक-थाम के खयाल से जातीय रीति-रिवाजो-सवधी रूढियाँ भी
जाती है। कुछ जातियो मे, जहा उसका नाम-निशान भी नही था,
जगलो की वस्तियो से मजूरी के लिए वडे-वडे शहरो मे या उद्योग-
मे जाने पर उसका प्रवेश होगया। वहाँ उन्हे उसकी छूत
जाती है और जव वे अपने स्थान पर वापस लौटते है तो उनसे
के दूसरे अधिवासियो मे वह फैलने लगता है।

बर्मा मे इसका काफी जोर हैं। आसाम की दोनो घाटियो मे
पाया जाता है। वाहर के रोग-ग्रस्त भाग मे जहाँ मजदूर वडी तादाद
भर गये है वहाँ इसका विशेप रूप से प्रकोप है। विहार-वगाल के मध्य
मे छोटा नागपुर और गगा किनारे के सपाट प्रदेश के बड़े हिस्से में ए
दक्षिणोत्तर पटिया की पटिया ही है, जिसमे गया, सथाल परगना, वीर
भूम, पश्चिमी वर्दवान, मानभूम (पुलिया), वाँकुडा और मिदनापु
जिलो का समावेश है। यही पटिया नीचे की ओर उडीसा और मद्रा
इलाके में वालासोर, पुरी, गजाम और गोदावरी तक फैली हुई है
मद्रास का और दूसरा हिस्सा जहाँ इसका ज्यादा जोर है अरकाट औ
सलम जिले है। त्रावणकोर, कोचीन और मलावार मे भी इसकी
वहुतायत है। मध्यप्रात के छत्तीसगढ और वरार-विभाग में भी ऊपर
के जितना ही है। नेपाल से सटे हुए विहार के हिस्से और सयुक्तप्रात
मे भी, कम होने पर भी, है सर्वत्र। हिमालय मे और काश्मीर में यह
मुश्किल से मिलता है। इसका कारण आत्यतिक हवामान और जगली
रहन-सहन होसकना है। पूर्वी हिंदुस्तान में कोढ की प्रवृत्ति

होकर मर्यादित—दो-चार केद्रो मे ही—रहने की थी। पर जबसे मदरफ्त के साधन बढे और फैले, कल-कारखानो की बाढ़ हुई, ातियों का पारस्परिक व्यवहार बढा, बड़ी तादाद मे लोगो का इधर उधर जाना आसान हुआ, तबसे अलिप्त हिस्से मे भी रोगग्रस्त हिस्से ी तरह इसके फैलने की सुविधा होगई।

तीसरा प्रकरण

रोग का दायरा

हिंदुस्तान मे कोढ के दायरे को चार शीर्षको मे बांटा जाना ाहिए—(१) स्थान, (२) रोग का प्रकार, (३) उम्र, (४) त्री-पुरुष-भेद।

स्थान

हिंदुस्तान मे कोढ कहाँ कितना फैला है, यह जानने के लिए मर्दुम-ुमारी के अको के सिवा दूसरा साधन हमारे पास नही है। पिछले दस ालो मे कोढ-सबधी जाच का काम हिंदुस्तान के काफी हिस्सो मे हुआ ै। १९२१ की मर्दुमशुमारी मे कोढियो की तादाद १,०२,००० थी। ९३१ मे वह १,४७,९११ मिलती है। इससे यह नतीजा नही निकालना ाहिए कि रोग बाढ पर है। इतना ही कहा जासकता है कि पहली ांच मे कुछ ढिलाई रही होगी और पिछली जांच चौकस हुई होगी। विशेषज्ञो की ओर से खास कोढ के सबध मे जो जाँच हुई, उसमें ोगियो की तादाद असली मर्दुमशुमारी की तादाद से कही तिगुनी तो हीं बीस गुनी से ज्यादा पाई गई। मर्दुमशुमारी की सख्या से

हिंदुस्तान में फैलाव

हिंदुस्तान के एक बडे हिस्से में कोढ ने अपने हाथ-पाव फैला है। आदिनिवासियो में वह पुराने जमाने से चलता आरहा है। रोक-थाम के खयाल से जातीय रीति-रिवाजो-सबधी रूढियाँ भी जाती हैं। कुछ जातियो में, जहा उसका नाम-निशान भी नही था, जगलो की बस्तियो मे मजूरी के लिए बडे-बडे शहरो मे या उद्योग- में जाने पर उसका प्रवेश होगया। वहाँ उन्हे उसकी छूत जाती है और जब वे अपने स्थान पर वापस लौटते हैं तो उनसे जंगल के दूसरे अधिवासियो में वह फैलने लगता है।

बर्मा में इसका काफी जोर है। आसाम की दोनो घाटियो मे यह पाया जाता है। बाहर के रोग-ग्रस्त भाग मे जहाँ मजदूर बडी तादाद में भर गये हैं वहाँ इसका विशेष रूप मे प्रकोप है। बिहार-बगाल के मध्य में छोटा नागपुर और गगा किनारे के सपाट प्रदेश के बडे हिस्से मे एक दक्षिणोत्तर पटिया की पटिया ही है, जिसमे गया, सथाल परगना, वीर-भूम, पश्चिमी बर्दवान, मानभूम (पुलिया), बाँकुडा और मिदनापुर जिलो का समावेश है। यही पटिया नीचे की ओर उडीसा और मद्रास इलाके में बालासोर, पुरी, गजाम और गोदावरी तक फैली हुई है। मद्रास का और दूसरा हिस्सा जहाँ इसका ज्यादा जोर है अरकाट और सेलम जिले हैं। त्रावणकोर, कोचीन और मलाबार में भी इसकी बहुतायत है। मध्यप्रात के छत्तीसगढ और बरार-विभाग में भी ऊपर के जितना ही है। नैपाल से सटे हुए विहार के हिस्से और सयुक्तप्रात में भी, कम होने पर भी, है सर्वत्र। हिमालय में और काश्मीर मे यह मुश्किल से मिलता है। इसका कारण आत्यतिक हवामान और जगली रहन-सहन होसकता है। पूर्वी हिंदुस्तान में कोढ की प्रवृत्ति सार्वत्रिक

। होकर मर्यादित—दो-चार केंद्रो मे ही—रहने की थी। पर जबसे तामदरफ्त के साधन बढे और फैले, फल-कारखानो की बाढ हुई, जातियो का पारस्परिक व्यवहार बढा, बड़ी तादाद मे लोगो का इधर से उधर जाना आसान हुआ, तबसे अलिप्त हिस्से मे भी रोगग्रस्त हिस्से की तरह इसके फैलने की सुविधा होगई।

तीसरा प्रकरण

रोग का दायरा

हिंदुस्तान मे कोढ के दायरे को चार शीर्षको मे बाँटा जाना चाहिए—(१) स्थान, (२) रोग का प्रकार, (३) उम्र, (४) स्त्री-पुरुष-भेद।

स्थान

हिंदुस्तान मे कोढ कहाँ कितना फैला है, यह जानने के लिए मर्दुमशुमारी के अको के सिवा दूसरा साधन हमारे पास नही है। पिछले दस सालो मे कोढ-सबधी जाच का काम हिंदुस्तान के काफी हिस्सो मे हुआ है। १९२१ की मर्दुमशुमारी मे कोढियो की तादाद १,०२,००० थी। १९३१ मे वह १,४७,९११ मिलती है। इससे यह नतीजा नही निकालना चाहिए कि रोग वाढ पर है। इतना ही कहा जासकता है कि पहली जाँच मे कुछ ढिलाई रही होगी और पिछली जाँच चौकस हुई होगी। विशेषज्ञो की ओर से खास कोढ के सबध मे जो जाँच हुई, उसमें रोगियो की तादाद असली मर्दुमशुमारी की तादाद से कही तिगुनी तो कही बीस गुनी से ज्यादा पाई गई। मर्दुमशुमारी की सख्या से

हिंदुस्तान में वास्तविक कोढियो की तादाद दस गुनी होगी यह
में कोई अतिशयोक्ति नही है। हिंदुस्तान मे कम-से-कम १५
कोढ़ी होगे। कुछ पीडित प्रदेशो मे रोगमान का परिमाण २ प्रतिश
कुछ थोड़े हिस्सो में ५ से ७ प्रतिशत और कुछ गांवो मे २० प्र
तक पहुचा हुआ है। प्रत्यक्ष जाच से यह सख्या मालूम की गई है।

रोग के प्रकार

कोढ के प्रकारो का विस्तृत वर्णन १० वें प्रकरण मे करेंगे। मु
प्रकार उसके दो हैं : (१) सौम्य कुष्ठ (न्यूरल) अथवा असांस
प्रकार, (२) कालकुष्ठ (लेप्रोमटस) अथवा सासर्गिक प्रकार।

अनुभव किया गया है कि हिंदुस्तान मे आरम्भिक सौम्य प्रकार के
ससर्ग (छूत) न फैलानेवाले रोगी सैकडे ७०-७५ पाये जाते
कालकुष्ठ के—ससर्ग फैलानेवाले २०-२५ प्रतिशत मिलते है।

उम्र

किस उम्र के कितने रोगी पाये जाते है, इस विचार का विशेष महत्व
नही है। अधिक उपयोगी यह देखना होगा कि कोढ के आम तौर
किस उम्र में किस परिमाण मे होने की सम्भावना रहती है। इसके लग
की उम्र की जाच के लिए एक सस्था में ४०० रोगियो के अक एक
किये गये। उनमे हरेक की जबानी मालूम हुआ है कि पहले लक्षण
साल की उम्र होने के पहले दिखाई देने लगे। कोढ के आरम्भि
लक्षण शीघ्र ध्यान मे नही चढते। बहुत काल तक सुप्तावस्था
(डिवर्मेंट स्टेट) में रहते है। ससर्ग लगने के बाद प्रथम लक्षण प्रव
होने में भी इतना ही लम्बा समय लगता है। इन बातो के विचार
हम इस नतीजे पर पहुँचते है कि अधिक उदाहरण इसके बचपन
युवावस्था मे और प्रौढावस्था के बिलकुल आरम्भ में होने के है।

उम्र के वाद रोग होने की सम्भावना वहुत कम रहती है। तिशत से अधिक नही होती।

री खास वात है कि वचपन मे लगे रोग के ज्यादा जोर पकडने क सम्भावना रहती है और प्रौढावस्था मे लगा भी तो साधा-ौम्यस्वरूप का ही होता है।

स्त्री-पुरुष भेद

रे कुष्ठग्रस्त देशो मे स्त्रियो की अपेक्षा पुरुषो मे कोढ अधिक है। मामूली तौर से दूने का फर्क है। इस भेद की सफाई मे कुछ ा कहना है कि समाज मे स्त्रियो की जांच का काम दुष्कर है। ारे मे पूरी रिपोर्ट नही मिलती होगी। हिंदुस्तान मे तो परदे का होने से इस अनुमान के लिए वडी गुजाइश है। सयुक्तिक देने पर भी यह अनुमान सही नही है। उदाहरण के लिए ा को लीजिए। वहाँ तो स्त्री-पुरुष दोनो ही विलकुल कम-से-कम हननेवाले है। वहाँ कोढ की जाच हमेशा अनावश्यक वस्त्र र की जाती है। उनमे भी स्त्रियो से पुरुष रोगियो की सख्या ाई जाती है। और इसके सिवा वहाँ यह भी देखा जाता है कि े स्त्रियो में यह रोग अपेक्षाकृत सौम्य रूप लेता है। दूसरी का भी यही अनुभव है। इससे जान पड़ता है कि स्त्रियो की पुरुषो मे उसका परिमाण वढा हुआ है और स्वरूप भी तीव्र है।

ी-पुरुषो मे भिन्न-भिन्न उम्र की दृष्टि से रोगमान का लेखा देखा ो उसमे भी ऐसी ही विचित्रता पाई जाती है। वचपन मे दोनो ा एक-सा रहता है। पर युवावस्था आने पर अथवा उसके वाद वर्षों मे स्त्रियो मे रोग का जोर ज्यादा होने की प्रवृत्ति रहती

है। उसके वाद तो पुरुपो का नम्बर ही वढा मिलता है।

इन दोनो वर्गों मे रोग के प्रमाण और तीव्रता में भेद होने वजह क्या है, यह कहना मुश्किल है। सम्भव है शरीर-रचना के बाह्य परिस्थिति या रहन-सहन के भेद के कारण ऐसा होता हो। सर्वमान्य वात है कि कुछ रोगो मे स्त्रियो की अपेक्षा पुरुपो को छूत लगने का डर रहता है। पर कोढ के सवध मे यह वात । स्पष्ट है उतनी दूसरे रोग मे नही पाई जाती।

साराश, हिंदुस्तान मे रोगमान हजार मे तीन है। कही वह से भी ऊपर पहुचता है। इनमे से दो-तिहाई से तीन-चौथाई सं. प्रकार के रोगी है। एक-चौथाई से एक-तिहाई ससर्ग फैलानेवाले हैं रोग साधारणतः बचपन में या युवावस्था मे लगता है। स्त्रियो अपेक्षा पुरुप अधिक (लगभग दूने) कुष्ठविकृत होते है। इ सवा उनमे स्त्रियो की अपेक्षा रोग का अधिक उग्र रूप धारण की ओर झुकाव रहता है।

चौथा प्रकरण

कोढ़ कैसे होता है ?

कोढ का नाम बहुत प्राचीन समय से सुना जाता है। अनेक में वह फैला हुआ है। कही कम, कही ज्यादा, कही धीमा तीव्र, कही एक-सा हिसाव नही है। इसमे बडे चढाव-उतार हुए न सुधरो को छोडा, न पिछडो को वख्शा। कही सक्रामक रूप करता है तो कही अड्डा जमाये वैठा मिलता है। इससे समझदार

न मे स्वाभावत: यह प्रश्न उठना है कि यह रोग कैसे पैदा होता है ? सकी उत्पत्ति के बारे मे बहुत तरह के गलत-सही खयालात लोगो मे ाये जाते है । इन लोककल्पनाओ मे कुछ सत्य का अश, एक-रफापन और कुछ अतिशयोक्ति होना स्वाभाविक है । शास्त्रज्ञो ने इन ब कल्पनाओ की छानबीन करके इसका रोगोत्पत्तिशास्त्र (इटियालोजी) ना डाला है । सन् १८७१ मे हनसेन के कुष्ठजतु खोज निकालने के ाद इन विचारो मे शास्त्रीयता आगई ।

कुछ लोक-कल्पनाए

प्राय पहली कल्पना है कि अमुक चीज खाने या न खाने से यह रोग होता है । कही लोगो की कल्पना है कि सरसो का तेल खाने से, कही मूगफली का, कही कोपने का, कही और किसी चीज का तेल खाने से कोढ होता है । दूध और मास इकट्ठे खाने से भी कोढ होने की बात सुनी जाती है । कुछ का कहना है कि जिस नमक पर छिपकली मूत गई हो उसे खाने से कोढ होजाता है । यूरोप मे भी जे हचिसन ने सडी मछलियो के भोजन को कोढ का कारण बतलाया था । पर बाद को उसका मत बदल गया । जन्म से अर्थात् इस रोग से पीडित पिता-माता की कोख से जन्म लेने से यह रोग होने की कल्पना का भी जोर है । रोगी के सहवास से इसके लग जाने की कल्पना भी उतनी ही जोर-दार है । इन दोनो का आगे विस्तार से विचार किया गया है । उपदश (गर्मी) रोग से कोढ का बहुत निकट-सबध है, यह कल्पना भी पुरानी है । इन दोनो रोगो को एक ही 'मेह' नाम से पुकारते है । रजस्वला-काल मे स्त्री-सग करने से इस रोग के होने की बात कहनेवाले लोग भी मिलते है ।

इनमे कुछ कल्पनाए निराधार है । वे शास्त्रीय कसौटी पर नही

ठहरती। कुछ मे सत्य का थोडा अश है, उतनासा लेना चाहिए
उदाहरणार्थ, अमुक वस्तु खाने से कोढ होता है इसके लिए कोई
नही है। पर अशास्त्रीय आहार कोढ फैलाने के लिए अनुकूल
पैदा करने का एक प्रमुख साधन जरूर है। यह मानने मे कोई
नही है कि सूखी या नमकीन मछलियो के सेवन से इसके फैलने
अप्रत्यक्ष सहायता होती है। खयाल रहे कि आहार का रोग-प्र
क्षमता (रेजिस्टेंस) से सबध है और प्रतिकार की शक्ति का
के फैलने से। परतु किसी खास खाद्य से रोग होता है यह मानने
लिए शास्त्रीय आधार नही है। वैसे ही इस खयाल के लिए भी
आधार नही है कि सिर्फ चना, सिर्फ काजू इत्यादि खाने से रोग
रहता है। कुछ का मानना है कि अन्न के द्वारा रोग लगता है,
की छूत से नही लगता। यह भी सही नही है।

सांसर्गिकता-संबंधी कल्पना

पुराने जमाने से इस रोग से सब जगह के लोग डरते और
करते रहे है। वैसे ही इस रोग के सबध मे लोगो के जो खयालात
मिलते है उनसे जान पडता है कि इसके छुतहे होने की कल्पना
मे थी। इसे आनुवशिक मानने की ओर भी लोगो का कुछ झुकाव
पर उसमे निश्चितता नही थी, उसमे अज्ञान और झूठे डर का
दिखाई देता है। इसकी वजह से कोढियो के साथ बर्ताव करने मे क्रूरता
का रिवाज चलता आया दिखाई देता है। यह ठीक है कि इससे रोग
रुकने मे कुछ मदद मिली, लेकिन बहुत बार रोगियो को व्यर्थ कठोरता
का भी शिकार होना पडता है।

रोग के स्पर्शजन्य (छुतहा) होने की कल्पना थी, तथापि उसकी
स्पर्शजन्यता साधारण स्वरूप की थी या तीव्र स्वरूप की, इसकी कल्पना

नहीं थी । इसका भी विचार नही हुआ था कि सभी रोगी सासर्गिक दशा वाले होते हैं या कुछ । न इसीका विचार हुआ था कि रोग लगने का भय किसे, किस परिस्थिति मे और कितना होता है ? कितनोको रिवाजो का अतिरेक और कठोरता पसद नही आती, इसलिए वे एकबारगी दूसरे सिरे पर जाकर उलटे यह प्रतिपादन करने लगते हैं कि यह रोग सासर्गिक नही है । यो, लोकमत का काटा इधर से उधर झूलता रहता है । पहले कह चुके हैं कि यूरोप के बहुतेरे देशो मे अनेक कोढी-आश्रम थे । अकेले फ्रास मे उनकी संख्या दो हजार से ऊपर थी । पहले अग्रेजो के यहा कोढियो के सबध मे जो कायदे थे उनके सबध मे व्यवस्थित तथ्य मिलता है । सर जेम्स सिम्सन ने निम्न-लिखित वर्णन दिया है—"कोढी को कुटुम्ब से अलग कर देते, विवाहित होने पर पत्नी को तलाक देदेना पडता, उसकी स्त्री को पुनर्विवाह करने की इजाजत थी । उसे कोढी-आश्रम मे लाकर रखने के पहले पादरी कुछ विधिया पूरी कराता और अत्यविधि (मरणविधि) की भाति उसके शरीर पर मिट्टी भी डालता । कायदे की निगाह से उसे मरा मान लिया जाता । उसे एक खास तरह की पोशाक पहननी पडती । रास्ते से आते-जाते उसे एक खास तरह की आवाज करनी पडती । उसे होटलो, गिर्जों, कारखानो और दुकानो मे घुसने की मनाही थी । छोटे बच्चो से कुछ भी लेने-देने पर रोक थी । वह सार्वजनिक जलाशयो का उपयोग नही कर सकता था । कोढियो को छोडकर दूसरो के साथ खाने-पीने पर प्रतिबध था । आम रास्तो पर न चलने देकर सकडी गलियो में से आने-जाने की आज्ञा थी । रास्ते मे बात करनी हो तो जोर से नही की जासकती थी । बाजार में कुछ खरीदना हो तो छडी के इशारे से बताना पडता । रहने का स्थान तो बस्ती से बहुत ही दूर होता था ।"

अफ्रिका की पिछडी हुई जातियो में भी ऐसे ही अथवा इससे कडे रीत-रिवाज प्रचलित होने के सबूत मिलते है। वहा तो रोगी जबर्दस्ती अलग कर दिया जाता है और वही उसे खाना पहुचा दिया है। सेनेगाल, आइवरीतट, कोमोरो बदर और मादागास्कर में १९ तक यह रिवाज था। हिंदचीन में मर जाने पर रोगी को विछावन समेत जला देने की रीत है। गाडना हुआ तो ज्यादा गड्ढे मे गाडते है। चीन और जापान मे भी गाव से वाहर उनकी बस्ती वसाने की प्रथा है। जापान मे 'केन' नियम के अनुसार प्रतिष्ठित कोढियो तक को बहिष्कृत भिक्षुको की पात में जाना पडता है। अपने यहा मनुस्मृति मे भी इसी तरह का उल्लेख मिलता है। उसकी मरण क्रिया मे नही जाना चाहिए, ऐसा लोकमत आज भी अपने यहा कही-कहीं दिखाई देता है। उन्हे 'पापरोगिणः' यह नाम देने मे तिरस्कार की हद होगई है। इन बातो से इस रोग के ससर्गज होने की कल्पना और भय प्राचीन समय से जारी दिखाई देते है।

आनुवशिकतासबंधी कल्पना

पहले कहा जाचुका है कि सासर्गिकता की भाति आनुवशिकता (हेरिडिटी) सबधी खयाल भी पहले से चलता आया जान पडता है। चीन, जापान और अफ्रिका मे कोढ के आनुवशिक होने का खयाल आज भी मौजूद है। हिंदुस्तान मे अगर किसी रोगी से कहिए कि उसे कोढ है तो अनेक बार यह उत्तर मिलता है कि मेरे पूर्वजो में यह किसी को नहीं था। इस जवाब मे यहा रोग के आनुवशिक होने का खयाल समाया हुआ है।

यूरोप मे भी सत्रहवीं, अठारहवीं, उन्नीसवी सदी मे सन् १८७१ तक इस रोग के आनुवशिक होने का खयाल खूब फैला हुआ था। पिछले

इस खयाल ने ज्यादा जोर पकडा। आनुवशिकता और स्पर्श-
। इन दोनो उपपत्तियो मे होड-सी लगी हुई थी। कभी इसकी तो
उसकी प्रवलता होती थी। १८४८ मे डैनियलसेन और बोअक
अधिकारी विशेषज्ञो ने जो पुस्तक लिखी उसमे इस आनुवशिकता
पपत्ति पर जोर दिया। इस खयाल को उत्तेजन मिलने का कारण
मे 'रायल कालेज आफ फिजीशियस' की रिपोर्ट हुई। उसकी
२ की रिपोर्ट मे यह फैसला दिया हुआ मिलता है कि यह रोग
ंक नही है और रोगी को वरवस अलग करने के लिए उपाय
की आवश्यकता नही है। पर आगे मालूम हुआ कि यह निर्णय करने
ग़्ती थी। इस रिपोर्ट के कारण प्रत्यक्ष रूप से यह फायदा तो
कि उसकी वजह से दोनो मतो की अच्छी छान-वीन हुई। इन वातो
ोज की ओर जोर से ध्यान गया। उसके बाद तत्काल ही १८७१
नसेन ने सूक्ष्मदर्शक की सहायता से कुष्ठजतु का होना सिद्ध
। कुष्ठविज्ञान (लेप्रालोजी) मे इस टक्कर की खोज अभी-
नही हुई है।

आनुवशिकता के विरुद्ध सबूत

कोढ आनुवशिक है, ससर्गज नही, यह जो बीच के काल मे प्रति-
त किया गया उसका आधार क्या था, इसकी छान-बीन करने
यह गलत साबित हुआ। कुछ का निरीक्षण मर्यादित क्षेत्र मे था,
ऌए वे सही अनुमान नही कर सके थे। मालूम हुआ कि इनमे
ो रोग के प्रत्यक्ष स्वरूप का अनुभव नही था। कोढ की आनु-
कता की कल्पना के विरुद्ध विशेषज्ञो के इकट्ठे किये हुए सबूत तीन
ो मे बाटे जाते हैं —

१—सब कुष्ठवेत्ताओ का अनुभव है कि कोढ की बाढ के

साथ-साथ पुरुष रोगी की वंश-वृद्धि की शक्ति नष्ट होने लगती है तब यह असंभव है कि जो रोग वंशवृद्धि की शक्ति को नष्ट करता है वह स्वत आनुवंशिक हो।

२—हवाई द्वीप, न्यूकैलेडोनिया और मार्कस्वास द्वीप में कोढ़ महामारी की तरह जोरो से फैला। सिर्फ बीस ही वर्षों की मीयाद में वहा रोग ऐसी विलक्षणता से बढा कि आनुवंशिकता की कल्पना के लिए कोई गुंजाइश ही नही रह गई। इसके सिवा यूरोप-आगत निवासियो में भी उसका संसर्ग फैल गया, जिनके पूर्वजो की पीढियो में उसका नाम-निशान तक नही था। ब्रिटिश गायना और दूसरे उष्णकटिबंध वाले प्रदेशो मे ऐसे अनेक उदाहरण है।

३—यदि यह रोग आनुवंशिक होता तो जहा इसने डेरा डाल दिया था वहांसे उखडने या कम होने की बात सामने न आई होती। इसका एक मजेदार उदाहरण नार्वे के १७० आदमियो का है। इनमें कुछ को प्रत्यक्ष रोग का आरम्भ हाल ही में हुआ था, बाकी को संसर्ग लग चुका था और वे रोग लगने की तैयारी में थे। उन्हे नार्वे से अमेरिका के समशीतोष्ण प्रदेश में बसने को भेज दिया गया। हनसेन ने बाद को उनकी जाच की तो उनमें से एक के भी प्रत्यक्ष रोग नही मिला। उनके वंशजो में से किसीको भी होने का पता नही लगा।

इसकी अपेक्षा निर्णायक सबूत इतर कोढ-आश्रमो में रोगियो के जन्मे हुए बच्चो का है। कोढियो के पेट से हुए बच्चे जन्म से ही अलग करके पाले जाने पर निरोगी रहते है और उन्हे निरोगी संतान होती है, यह आज अनुभव से प्रत्यक्ष सिद्ध होगया है। हिंदुस्तान मे तरनतारन (पंजाब) के कुष्ठ-निवास की रिपोर्ट और मादागास्कर के उदाहरण इस संबंध में अध्ययन करनेयोग्य है।

यहा एक वात वताने की जरूरत जान पडती है। यद्यपि कोढ आनुवशिक नही है, तथापि उसकी रोग-ग्रहणशीलता (ससेप्टिविलिटी) तो आनुवशिक है । मतलव, कोढी की सतान को कोढ होजाने का डर दूसरो की सतान की तुलना मे अधिक होता है और यह उन्हें जन्म से ही मिलता है । इसलिए ऐसे वच्चो को रोग से वचाने की ज्यादा खवर-दारी रखनी चाहिए । क्षय रोग का भी यही अनुभव है ।

स्पर्शजन्यता के विषय में प्रमाण

आधुनिक विशेषज्ञो ने जो अनेक और सवल प्रमाण सामने रक्खे है उनसे इस रोग के स्पर्शजन्य होने और ससर्ग के कारण ही फैलने के विचार की पूरी पुष्टि होती है। ब्राउस, हिलिस, व्हाट, लेलायर के ग्रथो और हवाई द्वीप की रिपोर्ट मे इसके व्यवस्थित प्रमाण एकत्र किये गये है । अपने यहा तो इसके इतने प्रत्यक्ष उदाहरण है कि उनका उल्लेख करने की भी जरूरत नही है । तथापि कुछ चुने हुए उदाहरण देना उपयोगी होगा ---

१---एक मालगुजार का एक नौकर कोढी था । शुरूआत के बारे मे इसका किसीको पता नही था। वह गाव के पास के वाग मे मोट चलाता और वाग की रखवाली करता । उसकी रोटी वही पहुच जाती । वार-तेवहार वह घर भोजन के लिए जाता । वाग छोडकर वह प्राय कही जाता नहीं । मोट चलाना अथवा मालगुजार के छोटे वच्चे को लेकर वाग मे खिलाना या रखवाली करना यह उसका क्रम था। आगे चलकर उसका रोग वहुत भयकर होगया। मालगुजार के लडके को भी लग गया। पर उस कोढी का जो निज का लडका था वह विलकुल ठीक पाया गया ।

२---किसी छोटे द्वीप मे जव नये सिरे से रोग होता है तो स्पर्श-जन्यता के अभ्यास के लिए अच्छे साधन मिलते है । कनाडा के एक ख इ

के किनारे पर ट्रिकार्डी लेपर एसाइलम है। उसके पड़ोस में ही बेट्स मैक्कार्थी नाम की स्त्री का जन्म हुआ था। वह सामने के प्रिंस एडवर्ड नाम के छोटे द्वीप पर रहती थी। उसकी जिंदगी के ५२ वे साल में उसे यह रोग फूटा। १८६४ मे वह गुजर गई। रोग फूटने के पहले उसको पाच बच्चे होचुके थ। सबसे बडा लडका २० वर्ष का था। ये सब लड़के रोगग्रहणशील (ससेप्टिबल) उम्र के थे। उनमे सबसे छोटी लड़की को छोड़कर बाकी के बच्चो को एकसाथ ही रोग ने घेरा। इसके बाद उसका देहान्त होगया। छोटी लड़की की जान डेल नामक आदमी से शादी हुई। जान डेल को रोग ने घेरा और उसकी दो लड़कियो को भी। एक आदमी ने चौथे बच्चे की सेवा-शुश्रूपा की थी, आगे चलकर उसे भी रोग लगा। उस स्त्री का जेम्स कमेरन नामक का दूसरा दामाद उसके सासर्गिक बच्चो के साथ उठता-बैठता था, उसे भी रोग ने सन् १८७० मे पकडा। इस प्रकार इस एक स्त्री की छूत से ५ लडके, २ नाती और ३ दूसरे सबधी रोगग्रस्त हुए। तबतक उस टापू मे इसके सिवा और किसीको कोढ रोग नही था। घर मे छूत फैलने का यह एक खास उदाहरण है। दामाद, मित्र और नौकर के बारे में तो आनुवंशिकता का कोई दूर का सबंध भी नही जोडा जासकता।

३—हिंदमहासागर मे मारिशस के पास एक छोटा-सा रोड्रिग्यूज नामक टापू है। १८७५ मे ८५ के बीच डियागो नामक एक मल्लाह मारिशस से वहा बसने गया। तबतक उस टापू मे किसीको कोढ नही था। ४–५ वर्ष बाद मल्लाह को कोढ फूटा। रोग के जोर पकडने पर वह एक पहाडी पर जाकर रहने लगा। तबसे सालभर के अदर-ही-अदर डियागो के मालिक के लडके मे रोग के लक्षण प्रकट हुए। यह लडका नाव पर बराबर डियागो के साथ काम करता था। फिर तो सन् १९२०

भीतर इस टापू मे २३ कोढी होगये । उनमे १६ मालिक के रिश्तेदार और बाकी ७ डियागो के सबधी ।

४---रायल कालेज आफ फिजिशियस, लदन की सन् १८६२ की पोर्ट के आधार पर उस वक्त चलते हुए कुछ कुष्ठ-निवास बद कर ये गये। बाद मे पता चला कि उन स्थानो मे कोढ की वृद्धि हुई। तब र उन कुष्ठ-निवासो को चालू किया गया। इससे भी कोढ के स्पर्श-न्य होने की बात साबित होती है।

पति-पत्नी में संसर्ग-प्रमाण कम क्यों है ?

पारस्परिक सबध के कारण रोग लगने के इतने उदाहरण मिलते है क इसकी सासर्गिकता---छूत के बारे मे शका की कोई गुजाइश नही ह जाती। फिर भी शका की एक वजह है। मानिए, कोई रोगी है। सके ४--५ बच्चो को भी रोग लगा। पर उसकी स्त्री और उन बच्चो ो मां रोगी पति से बराबर ससर्ग रखते हुए भी रोग से बची रहती है, से उदाहरण कई बार मिलते है। ऐसे उदाहरणो की अच्छी छानबीन क्ये बिना ही कितने ही लोग तय कर लेते है कि कोढ आनुवशिक है, पर्शजन्य नही। पति से स्त्री को और स्त्री से पति को रोग लगनेवाले दाहरण भी मिलते है। पर संतान को माता-पिता से रोग लगने के जतने उदाहरण मिलते है उतने पति-पत्नी मे नही मिलते, यह ठीक है। क को कोढ था और बढ चला था। बाल-बच्चे नही होते थे। उसने हली स्त्री के होते भी एक दूसरी जवान लडकी से शादी की। पहली त्री ज्यादा दिनो से साथ रहने पर भी रोगी नही हुई, पर यह दूसरी त्री दो-तीन वर्षो मे ही रोग का शिकार बन गई। इसका कारण यह ान पडता है कि इस आदमी का रोग जब सासर्गिक दशा में पहुचा तो सकी पहली पत्नी की उम्र रोगग्रहणशीलता से ऊपर होगई थी,

इसलिए उसे छूत लगनी मुश्किल थी। दूसरी रोगग्रहणशील उम्र
थी और पति सासर्गिक हालत मे पहुचा हुआ था। ऐसी परि
तावडतोड छूत लगना आसान था।

कोढ-रोगियो मे वहुतेरे ऐसे होते है कि उनका रोग दूसरो को
लगता। कुछ सासर्गिक अवस्थावाले होते है, जिनसे वह दूसरो
लगता हैं। इसी तरह सवको रोग लगने का डर भी नही रहता। बच
में, जवानी मे, आम तौर से २५ वर्ष की उम्र के अदर रोग लगने
अधिक अदेशा रहता है। ३० साल की उम्र के वाद लगता भी है
सैकडे ५ को। पहले लोगो को इस मर्यादा की स्पप्ट कल्पना नहीं
इसी लिए इस तरह की गलत धारणा होती थी।

पांचवां प्रकरण

संसर्ग-प्रवेश

रोगी शरीर से प्रत्यक्ष स्पर्श होने पर दूसरे को लगनेवाले रोग
'स्पर्शजन्य अथवा स्पर्शसचारी या छुतहा' (कान्टेजियस) रोग कहते
रोगी शरीर से निकले हुए मल, मूत्र, पसीना थूक, लार, नेटा, उच्छ्
वगैरह के द्वारा दूसरे को लगनेवाले रोग को 'ससर्गसचारी अथवा स
गिक' (इन्फेक्शस) रोग कहते है। साधारणत कोढ को स्पर्शजन्य
जाता है। अखीर की वहुत भयकर अवस्था मे पहुँचने पर वह स
भी होजाता है।

ससर्ग-प्रवेश-द्वार

वर्तमान समय मे कुष्टवेत्ता कोढ़ को स्पर्शजन्य मानते हैं। पर स

ससर्ग पहुँचने का निश्चित द्वार कौनसा है, यह आज भी निश्चयपूर्वक
ही कहा जासकता। इस रोग के सूक्ष्म जतु होते है। उनके शरीर मे
सते ही शरीर की पेशिया (सेल्स) उनसे झगडती है। जतु-प्रवेश और
नके साथ होनेवाली पेशियो की प्रतिक्रिया के कारण शरीर मे कोढ के
क्षण पैदा होते है। कोढ पैदा करनेवाले सूक्ष्म जंतु * को 'कुष्ठ यष्टि
तु' अथवा लौकिक भाषा मे 'हनसेन के यष्टि जतु' (लेप्रा बसिलस)
हते है। वह अतिसौम्य विष वाला होता है। वह मानव-शरीर मे
ुस सकता है, और घटक के सारे पेशी जालो (टिश्यू) मे पसर सकता
। पर इसकी वजह से खयाल मे आनेलायक कोई भी लक्षण एकबारगी
दा नही होता। ससर्ग अप्रकट अथवा ध्यान मे न आनेलायक हालत मे
हुत वर्षों तक रहता है। भयकर अवस्था मे पहुचे हुए कोढी तक मे
मझ मे आनेलायक लक्षण कम ही मिलते है। समाज मे तो साधारणत
ह निरोगी माना जाता है। पर वह अपने सहवास मे आनेवालो मे लगा-
ार रोग फैलाता रहता है। इस प्रकार रोगससर्गी मनुष्य मे भी बाहरी
क्षण सहजमहज नही दिखाई देते। ससर्ग लगने के बाद अनेक वर्षों तक
ो ससर्ग लगनेवाले को पता तक नही चलता। इस दुहरे कारण की
जह से ससर्ग कब और कैसे लगा और किस ससर्ग-द्वार से, यह तय
रना अशक्य-सा होता है।

---

* सूक्ष्मजतु (बैक्टिरिया) एकपेशीमय होते है और बहुत जल्दी
बिखर जाते है। इनके चार उपभेद है—(१) गोलजतु, (२) यष्टिजंतु,
(३) सूत्रजंतु और (४) सर्पिलजंतु। ये अपने नाम के अनुसार गोल,
बारीक तिनके की तरह के, सूत की तरह के और सांप की आकृति के
होते है। इसके फिर रोगोत्पादक और अरोगोत्पादक भेद है। कुष्ठजंतु
यष्टिजंतु वर्ग के होते है। हनसेन ने १८७१ में इसकी खोज की थी।

रोग की अप्रकट अथवा बिलकुल आरम्भिक अवस्था जानने मे उ
योगी साधन सामान्यत होनेवाले प्रयोग, जतुसवर्धन (कल्चर) और रक्त
जल (सीरम) के द्वारा प्राप्त होते है। पर कोढ में वह भी काम मे नह
आते। क्योकि कुष्टजतुओ का मनुष्य-शरीर के बाहर आज भी कृत्रिम री
मे सवर्धन नही होपाया। प्रयोग करनेयोग्य प्राणियो के शरीर मे ल
घुमाकर यह रोग पैदा नही किया जासका। प्रकट बाहरी लक्षणो से अथव
सूक्ष्म जतुशास्त्र (बैक्टिरियालाजी) की सहायता से जब रोग का निदा
(रोग-परीक्षा) नही होपाता, तब रक्तजल के द्वारा परीक्षा करके रोग
निर्णय किया जाता है। पर कोढ के लिए ऐसी कोई रक्तजल विषय
परीक्षा भी अबतक आविष्कृत नही हुई।

रोग अथवा जख्म के कारण शरीर के पेशीजाल (टिश्यू) मे जं
रचनात्मक परिवर्तन होता है उसे रुग्णक (लीजन) कहते है। उपदश औ
दूसरे रोगो मे ससर्ग लगे हुए स्थान मे ही पहला मुख्य रुग्णक पैदा होत
है। कोढ मे रोग-ससर्ग-स्थान मे ही पहला चकत्ता पैदा होने के प्रमाण
मिलते है। पर साधारणत अधिक उदाहरणो मे ससर्ग के सारे शरीर मे
फैल जाने पर उसके परिणामस्वरूप पहला चकत्ता उठता है। यह प्राय
पहले फोड़ा हुए या जख्मी हुए स्थान पर ही उठता है।

उपर्युक्त कारणो से निश्चित ससर्ग-द्वार बतलाना मुश्किल है। तथापि
विपुटित अवस्था (प्रगत) के रोगी के सहवास मे आनेवाले के
श्लेष्मल त्वचा के (म्यूकस मेम्ब्रेन) व्रण (घाव) अथवा खरोच
लगे हुए हिस्से से कुष्टजतु शरीर मे घुसते है, यह मानने के लिए भरपूर
प्रमाण मौजूद है। छोटे बच्चो के नाक कुचरने, कंडु रोग अथवा
कृमिदश से परेशान होकर शरीर खुजलाने, शरीर पर के सादे य
दाद वाले घाव वगैरा ससर्ग पहुचाने के बिलकुल आसान मार्ग है

कोढी के उपयोग मे आनेवाले जलाशय मे स्नान-पान करने से रोग पैदा होने का पक्का प्रमाण अभी नही मिला है। कृमिदश से रोग फैलने के बारे मे भी कोई माननेवाला आधार नही है। पर यह जान पडता है कि बहुत बार कुष्ठजतु को इधर से उधर करने मे कृमि से मदद मिलती है। कोढी के रक्त से पुष्ट हुई मक्खिया, खटमल और जू के अगो पर कुष्ठजतु मिले है। कोढी के बिछौने पर सोने से या उसके कपडो का व्यवहार करने से रोग लगने के उदाहरण दिये गये है। कोढी की चटाई पर नंगे पाव चलने से अथवा उसके खाली किये हुए घर मे रहने से रोग लग जाने के उदाहरण है। इससे यह मानने की ओर प्रवृत्ति है कि मनुष्य-शरीर छोडने के कुछ समय बाद तक ये जतु जिदा रहते है। रोगी शरीर के बाहर उसके जीवित रहने की शक्ति नाममात्र की ही होती है।

प्रत्यक्ष सघटनात्मक स्पर्श के कारण ससर्ग फैलता है, यह सिद्ध करनेवाले भरपूर और सबल प्रमाण मौजूद है। स्पर्श जितना निकटस्थ और दीर्घकालीन और रोगी जितना अधिक सासर्गिक और ससृष्ट, जितना अशक्त अथवा नाजुक उम्र का होता है, रोग लगने की सभावना उतनी ही ज्यादा रहती है।

रोगियों के दो प्रकार—सांसर्गिक और असांसर्गिक

कोढियो मे सभी रोगी ससर्ग फैलानेलायक हालत को पहुँचे हुए नही होते। साधारणतः माना तो यह जाता है कि होगे तो वे सासर्गिक ही, नही तो रोगी ही न होगे। कुछ सासर्गिक होते है कुछ असासर्गिक, कुछ आज असासर्गिक होने पर भी आगे चलकर सासर्गिक होजाते है, कुछ आज सासर्गिक है पर आगे फिर उनके असासर्गिक होने की सभावना है। ये बाते साधारण लोगो की मुश्किल से समझ मे आने-वाली होने पर भी जरूरी है। इसके कारण रोग का स्वरूप समझने

और रोगी से व्यवहार करने में सुविधा होती है।

कोढियो मे से थोडे (एक-चौथाई) रोगी ही सासर्गिक होते हैं इधर हिंदुस्तान में जो जाचे हुई हैं उनसे पता चलता है कि १० रोगियो मे १ अतिसासर्गिक, १ साधारण सासर्गिक और ७–८ असांसर्गिक हालत वाले होते है। त्वचा अथवा नाक की श्लेष्मल त्वचा की सूक्ष्मदर्शक यत्र द्वारा योग्य रीति से फिर-फिर निश्चित अवधि पर अनेक बार परीक्षा करने पर कुष्ठ-जतु न पाये जाये तो रोगी असांसर्गिक समझा जाता है। इसकी यह सर्वमान्य कसौटी है। रोगी सासर्गिक है या असासर्गिक, यह सिर्फ देखने से अथवा बाहरी परीक्षा से हमेशा तय नही किया जा सकता। इसके लिए सूक्ष्मदर्शकयत्र (माइक्रस्कोप) की जरूरत पडती है।

कोढ के मुख्य दो प्रकार है। उनमे कालकुष्ठ (लेप्रोमटस्) प्रकार के रोगी हमेशा रोग फैलानेवाले होते हैं। ऐसे रोगी की बाहरी त्वचा (एपिडर्मिस) की खरोंची हुई झिल्ली पर कुष्ठ-जतुओ का दल-का दल बहुत बार पाया जाता है। नेटे और थूक मे, लार में, विशेषत. रोगी के छींकने, खासने अथवा जोर से साम लेते हुए बाहर निकलनेवाले गुबार वगैरा मे जतु कसकर भरे रहते है। कुष्ठ-प्रतिक्रिया (लेप्रा रीएक्शन) होने पर नाक मे की और चमडी पर की गाठे फूटकर बहने लगने की अधिक सभावना रहती है। ऐसे स्राव मे जतु खूब ही होते हैं और ससर्ग–छूत—लगने का भारी भय रहता है।

रोगप्रतिकार–क्षमता (रजिस्टेंस)

रोग लगेगा या नहीं अथवा लगेगा तो कितना लगेगा, यह तय करने का दूसरा महत्त्वपूर्ण साधन है ससर्ग लगेहुए (ससृष्ट) मनुष्य की रोगप्रतिकार-शक्ति। बच्चों की प्रतिकार-शक्ति विशेष करके जन्म

बाद कुछ वर्षों तक बहुत कम होती है। छोटे बच्चो मे जितनी ल्दी जल्दी और जिस उग्र रूप में ससर्ग लगता है, उससे यह बात लीभाति सिद्ध होती है। लेप्रालिन परीक्षा से भी यह बात प्रकट ोती है। सहचारी रोग, हीन पोषण और आरोग्य के प्रतिकूल रहन- हन के कारण प्रतिकार-शक्ति क्षीण होती है। वैसे ही जवानी प्यूबर्टी), गर्भ-धारण और दूध पिलाने के दिनो (लक्टेशन) मे भी रीर पर पडनेवाले जोर की वजह से भी प्रतिकार-शक्ति मे कमी होती । आरोग्य का प्रतिकूल वातावरण और रहन-सहन से बहुत निकट ा सबब है। उसी तरह भिन्न जाति अथवा वर्ग के रक्त-सबध का ी नजदीकी ताल्लुक होता है। आगे १७वे प्रकरण मे इसका अधिक चार किया गया है।

संसर्ग की शक्याशक्यता

कोढ के सार्सगिक होने पर भी उसका ससर्ग सौम्य प्रकार का ता है। बहुतेरे रोगी असासर्गिक होते है। थोडे स्पर्शसचारी होते । उनसे भी थोडे ससर्गसचारी होते हैं। ससर्ग ऊपरी और हलका- हुआ तो कुछ उपाय किये बिना ही उत्तम आरोग्य के कारण उसके पनेआप जाने की सभावना रहती है। ससर्ग साधारणत बहुत समय क अप्रकट स्थिति मे रहता है; बढने लगने पर भी धीरे-धीरे यथावकाश ढता है। लक्षण भी एकदम बहुत कुछ प्रकट नही होते। इसीलिए ोढ को जीर्ण (क्रानिक) और गुप्त सचारी (इसिडियस) रोग कहा ाता है। वह ज्यो-त्यो रोगी की वलि भी नही लेता। (नानफेटल)

एक खास उम्र और हालत मे रोग लगने का डर ज्यादा रहता । उत्तम प्रतिकार-क्षमता होने पर बाहरी प्रभावक संसर्ग होने ी सभावना कम रहती है। कोढी की सतान को अलबत्ता दूसरो की

अपेक्षा ससर्ग लगने का डर ज्यादा रहता है।

प्रत्यक्ष सघटनात्मक और दीर्घकालीन ससर्ग हुए विना सावारणत. ज्यो-त्यो रोग नही लगता। विशेषत शरीर कही से कटा, सुर्ता, खुला हुआ घाव और गीली त्वचा होने पर ससर्ग शीघ्र लगता है। मामूली तौर से बराबर कुछ दिनो का ससर्ग हो और वह भी बहुत निकट का, तव रोग लगता है।

पर विशेष परिस्थिति मे वह हर किसीको होसकता है। मनुष्य जाति का इस रोग सरीखा दुश्मन शायद ही कोई और होगा इसलिए सदा इससे सावधान रहना चाहिए। कोढ का ससर्ग न होने देने के लिए टीका लेने का उपाय नकली जैसा है। अत सासर्गिक रोगी से अलग रहना चाहिए और स्वास्थ्य अच्छा रखना चाहिए। तभी ससर्ग टलने की अधिक सभावना है।

छठवां प्रकरण

कुष्ठ-जंतु

कुष्ठजन्तु अथवा हनसेन के यष्टिजन्तु २ से ८ माइक्रोन * लम्बाई और ०.५ से १ माइक्रोन मोटाई के होते हैं। इसके पेशीद्रव (प्रोटोप्लाज्म) में रग धारण करनेवाले कण होते हैं। ये कण कभी अनेक और बहुत छोटे होते हैं। कभी एक ही बड़ा कण होता है। यह बीच

* सूक्ष्मदर्शक यंत्र के काम में आनेवाला एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म माप। मीटर का दस लाखवां भाग अथवा इंच का २५००० वां भाग। V इसका निशान है।
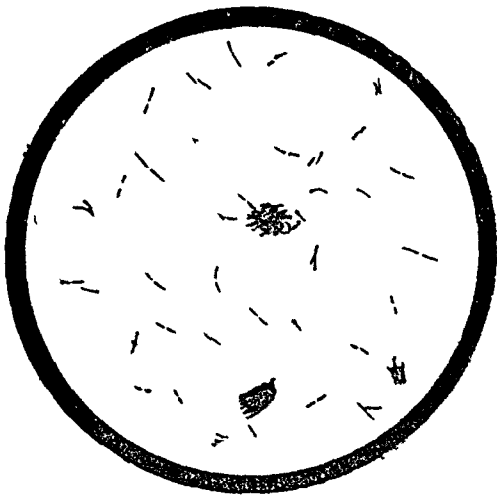
कुष्ठजंतु (सूक्ष्मदर्शकातून)।

चित्र २
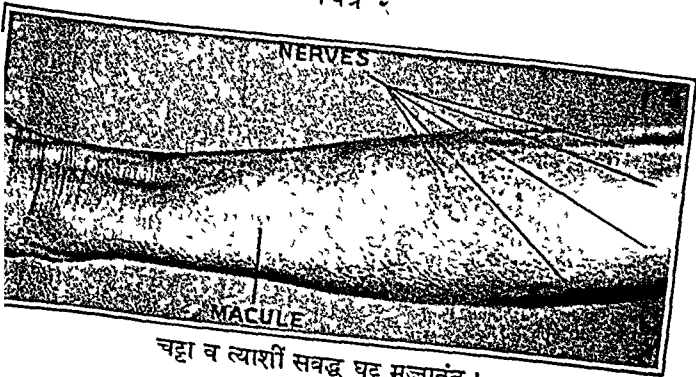
चट्टा व त्याशीं संबद्ध घट्ट मज्जातंतु।

में या सिरे पर होता है। कालकुष्ठ के रुग्णको मे अनेक जतु मिलते है। सौम्यकुष्ठ (न्यूरल लेप्रसी) मे वहुत ही कम और बडी खोज के बाद मिलते है। कोढ के दोनो प्रकारो मे भारी भिन्नता के कारण इस जतु के दो उपभेद होने के बारे मे कुछ ने मत प्रकट किया है। पर वह नही है। कारण फिर ससर्ग न होकर सौम्य कुष्ठ ही कालकुष्ठ रूप धारण करता है। परिवर्तन जो होता है वह जतु मे नही होता। जतु और पेशीजाल (टिश्यू) की पारस्परिक प्रतिक्रिया की समतुलनता में होता है। कालकुष्ठीय रुग्णक में कुष्ठजतु काफी पाय जाते है। कुष्ठविकृत सूजी हुई पेशी में जमा होकर रहने की ओर उनका विशेष झुकाव होता है। क्षयजतु और कुष्ठजतु को अलगाने मे यह विशिष्ट लक्षण उपयोगी होता है। ये दोनो जतु दिखने मे और रग-धारण-गुण (स्टेनिग रिएक्शन) मे समान होते है। सूक्ष्मदर्शक के एक क्षेत्र मे (फील्ड) क्षय-जतुओ की अपेक्षा कुष्ठजतुओ की सख्या अधिक होती है। वे पुज-के-पुज एक जगह जमा रहते है। क्षयजतु के मुकावले में कुष्ठजतु कम टेढे—अधिक सरल दिखाई देते है। साधारणत क्षयजतु फुफ्फुस मे पाये जाते है। कुष्ठजतु त्वचा, श्लेष्मल त्वचा और मज्जाततु (नर्व) मे पाये जाते है। इन भेदो के कारण इन दोनो जतुओ को अलग-अलग पहचाना जाता है। असली निर्णायक कसौटी के लिए गिनीपिग (सफेद चूहे जैसे जीव) के शरीर मे जतु को प्रत्यक्ष इजेक्ट करते—घुसाते हैं। क्षयजतु उसके शरीर मे बढते है और रोग पैदा करते हैं। वैसे कुष्ठजतु नही बढते। झील नीलसन की रीति से रगने पर कुष्ठजतु क्षयजतु की अपेक्षा कुछ कम अम्लस्थिर (एसिड फास्ट) पाया जाता है।

कुष्ठजंतु-संवर्धन (कल्चर) का प्रयोग अभी सशोधन-अवस्था मे है। प्रयोग करनेयोग्य प्राणियो के शरीर में कुष्ठ सचार करके

रोग का विकास करने की कोशिश मे भी कामयावी नही हुई है।

कुछ कार्यकर्त्ताओ ने यह मत प्रकट किया है कि कुष्ठजतु और मूषक कुष्ठजतु (वसिलस लेप्रा म्यूरिस) एक ही है। पर यह सही नही है। (को॰ सरीखा एक रोग चूहो को भी होता है। एक प्रकार की भैंस मे भी ऐसा ही रोग मिलता है। उन्हे मूपककुष्ठ और महिपकुष्ठ कहना चाहिए। परतु इन रोगो का मानव कुष्ठ से कोई ताल्लुक नही है।) चूहे के शरीर में मानव कुष्ठ के जतु प्रवेश कराने से रोग पैदा नही होता। पर मूषक कुष्ठ जतु घुमाने से सौ मे सौ चूहो को होता है। ये ये दोनो जतु एक नही हैं, तथापि कुछ बातो में समता है। आकार और रग-धारण-गुण दोनो मे एकसा ही है। दोनो के ही बारे मे व्यवस्थित जतु-सवर्धन अथवा वाअसर टीका (इनाक्यूलेशन) अभीतक तैयार नही होपाया है।

यह विचारने की बात है कि मनुष्य के क्षयरोग की जड निचली श्रेणी के जीवो के उसी प्रकार के रोग से है। पर मानव-कुष्ठ-जतु की जड कहासे आई? या किसी ऐसे प्राणी से उसकी जड निकली थी जो आज खत्म होगया है? यह खोज का विषय है।

सातवां प्रकरण

कुष्टरोग की शुरुआत

कुष्ठ जतु का स्वरूप और शरीर मे प्रवेश करने की उसकी रीति समझ लेने के बाद वह वहा अप्रकट स्थिति मे कितने समय तक रहता है, रोग का प्रथम उद्भव कैसे होता है, जतु शरीर मे किस-किस अवयव मे स्राव पैदा करता है, इन बातो का विचार करना आवश्यक होजाता है

अप्रकट अवस्था का समय (लेटट पीरियड)

ससर्ग-प्रवेश होने के वाद से प्रत्यक्ष रोग-लक्षण प्रकट होनेतक मे वहुतसा समय चला जाता है। पर उसकी अवधि निश्चित नही होती। इस समय को रोग-बीज-पोषण-काल (इन्क्युवेशन पीरियड) कहने की अपेक्षा अप्रकट अवस्था का काल कहना अधिक शास्त्रसम्मत होगा। छ हफ्ते के बच्चे के सारे शरीर पर रुग्णक देखने मे आये है। चार और सात महीने के बच्चे के शरीर पर भी चकत्ते पाये जाने के सबूत है। दूसरी ओर कुछ रोगियो मे रोग-ससर्ग के बाद बीस साल तक कोई भी लक्षण सामने नही आये। एक रोगी के शरीर पर सिर्फ एक छोटा-सा चकत्ता बाईस साल तक उतना-का-उतना वडा बना रहा। यह समय ससर्ग के प्रमाण और ससर्ग लगे हुए की प्रतिकार-क्षमता पर निर्भर रहता है। वह कभी तो कुछ महीनो का, तो कभी कुछ वर्षों का होता है। आम तौर से तो तीन वर्षो के आसपास होता है।

प्रथम उद्भव (आनसेट)

साधारणत देखा जाता है कि कोढ की पहली शुरुआत बिलकुल धीर गति से क्रम-क्रम से होती है। बिलकुल पहले दिखाई देनेवाले लक्षण दो तरह के होते है। (१) त्वचा पर एक-दो छोटे-से चकत्ते दिखाई देते है। उनमे सवेदना (सेंसेशन) का परिवर्तन कभी होता है, कभी नही। (२) पीठ के हिस्से के मज्जाततुओ मे खराबी पैदा होती है। हाथ-पाँव मे अथवा चकत्तो पर चुनचुनाहट होती है, झुनझुनी उठती है या जड़ता अथवा शून्यता जान पडती है। ये लक्षण बहुधा स्थानबद्ध स्थान विशेष पर होते है। ऐसे स्थानो पर पहले का कोई घाव या चोट होने की बात भी साधारणत पाई जाती है।

तथापि कभी-कभी शीघ्र परिणामकारी आकस्मिक स्वरूप की शुरु-

आत होती है। तब सारे रुग्णक उमड आते हैं। इस परिस्थिति में वे सब थोडे ही समय में फूट जाते हैं। उनमें उपर्युक्त दोनो प्रकार के लक्षण अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। कभी गाठे भी निकल आती हैं।

रुग्णकों का शरीर में विभाग

कोढ सारे शरीर का रोग है। खासकर त्वचा, कुछ श्लेष्मल त्वचा और पृष्ठभाग के मज्जातंतु (पेरिफीरल नर्व) में इसकी वजह से खराबी आती है। विकुपित अवस्था में करीब-करीब सभी अवयव (आर्गन) और पेशीजाल (टिश्यु) कुष्ठविकृत हुए रहते है।

इसमें उल्लेखनीय अपवाद मध्यवर्ती मज्जासंस्था (सेंट्रल नर्व सिस्टम) होती है। वह शायद ही विकृत हुई मिलती है। मज्जा-रज्जू (स्पीनल कार्ड) की कडी में जो खराबी पैदा होती है वह सौम्यकुष्ठ के कारण होनेवाले पृष्ठीय मज्जातंतु के दाह का (न्यूराइटिस) अप्रत्यक्ष परिणाम होता है।

कुष्ठ-संसर्ग के कारण स्नायुओं (मसल्) में प्रत्यक्ष विकृति नहीं होती है। संलग्न मज्जातंतु के कारण उसमें अप्रत्यक्ष पोषणविपर्यय (ट्राफिक) खराबी होती है।

हृदय भी प्रत्यक्ष रूप में विकृत नहीं होता। कुष्ठ-ज्वर अथवा मिश्र संसर्ग के कारण फैलनेवाले जहर से उसमें विकलता पैदा होती है।

रक्त रक्तवाहिनी—रक्तधमनियां (ब्लड वेसल) विशेषत. कुष्ठ-विकृत भाग की सूक्ष्म शाखा बहुत विकृत हुई होती हैं।

विकुपित दशा में पहुंचे हुए रोगी में थोडे प्रमाण में फुफ्फुस (लंग्ज) में संसर्ग पहुंचता है।

अन्नमार्ग (गैस्ट्रो इंटेस्टिनल ट्रैक्ट) और मूत्रमार्ग (यूरिनरी ट्रैक्ट) जहांतक जाना गया है सुरक्षित दिखाई देते हैं। विषजन्य रक्तदोष

के कारण (टाग्जिमिया) उत्पन्न होनेवाली अप्रत्यक्ष विकलताभर होती है।

शवच्छेदन (पोस्टमार्टम) मे यकृत (लीवर), प्लीहा—तिल्ली (स्प्लीन) हमेशा कुष्ठग्रस्त पाये जाते हैं। बढे हुए रोग मे उसके प्रकट चिन्हो मे एक चिन्ह उसका आकार बढा हुआ भी पाया जाता है। विशेषत कुष्ठ-प्रतिक्रिया (लेप्रारिएक्शन) मे यह बखूबी देखने मे आता है। पर इस परिवर्तन का प्रकट रोग-लक्षण की दृष्टि से (क्लिनिकली) बहुत उपयोग नही होता। मिश्र ससर्ग मे पोषणविषयक खराबी भी पैदा हुई पाई जाती है।

कालकुष्ठ मे वीर्यपिड या वृषण (टेस्टीज) थोडे-बहुत प्रमाण मे विकृत होते हैं। वह विकार दोनो गोलियो के मध्यभाग मे और साथ ही उनके अदरूनी हिस्से मे भी होता है। अखीर-अखीर मे तो यह अवयव श्वेततंतु (फायब्रस) का पेशीजाल ही बन जाता है।

कालकुष्ठ के सब रोगियो मे और सौम्यकुष्ठ के कुछ रोगियो मे रसग्रथि (लिफ नोड्स) कुष्ठ-विकृत होती हैं। आकार मे फर्क न पड़कर भी ग्रथि की मोटाई बढ जाती है। इस ग्रथि की छीलन (सेक्शन) लेने से भीतरी गाभा और अस्थिमज्जारज्जु (मेड्युलरी कार्ड) पीली-सी दिखाई देती है। क्षय रोग मे वह ऐसी नही पाई जाती। इससे कुष्ठ रोग की आसानी से परख होजाती है। पर बहुत बार दोनो रोग एक ही साथ होने की सभावना होती है। कोढ की जा करने मे इस फूली हुई रसग्रथि के छीलन की या सूई घुसाकर खीचे द्रव्य की परीक्षा करना उपयोगी होता है। कुष्ठ-ससर्ग त्वचा के रसस्थ (लिफ स्पेसेस) से रसवाहिनियो द्वारा ग्रथि तक ऊपर पसरता है यह ग्रथि छनने अथवा फिल्टर का काम करती है। उससे रोग फैल बद होजाता है, अथवा रुकावट तो हो ही जाती है।

आठवां प्रकरण

त्वचा के रुग्णकों का स्वरूप-लक्षण

पहले कह चुके है कि कोढ सारे शरीर मे होनेवाला रोग है उससे प्रत्यक्ष—बाहरी—अथवा अप्रत्यक्ष—भीतरी—सभी अवयवो अं पेशीजाल मे खराबी आती है। फिर भी उसके ससर्ग से प्रकट-लक्षण-दृ मे (क्लिनिकली) अथवा सूक्ष्म शरीरशास्त्र-दृष्टि से (हिस्टालाजिकली परीक्षा करने योग्य परिवर्तन खासकर त्वचा, श्लेष्मल त्वचा अं पृष्ठीय मज्जातंतु मे उत्पन्न होता है। कोढ की सौम्य अथवा मज्ज तंतु सबधी कुष्ठ और कालकुष्ठ ये दो किस्मे है। इनमे खास तौर मज्जातंतु और त्वचा मे क्रम से आगे-पीछे विकार पैदा होता है तथापि बहुतेरे रुग्णको मे दोनो मे ही ससर्ग पहुचा हुआ होता है। क के हमेशा मिलनेवाले नमूनेदार (टिपिकल) उदाहरणो में त्वचा अं मज्जातंतु एकसाथ ही विकृत हुए पाये जाते है। अतः त्वचा और मज्जातंतु एक गुट मानकर अभ्यास करने मे आसानी रहेगी। पहले त्वचा के रुग्णको के स्वरूप-लक्षणो का विचार किया जाता है।

त्वचा की रचना

त्वचा मे कोढ का ससर्ग फैलने की रीति को स्पष्ट बतलाने के लिए त्वचा की रचना के कुछ अगो का वर्णन पहले करना उपयोगी होगा।

त्वचा शरीर पर का बाहरी आवरण—परदा है। बाहरी त्वचा (एपिडर्मिस) और भीतरी त्वचा (डर्मिस) उसके ये दो हिस्से है। इनमें बाह्य त्वचा बाहरी परदा होने से मोटी और कड़ी होती है, वह पेशी की अनेक तहों से बनी हुई होती है। इनमे से ऊपर की तह की पेशी चपटे और सींग सरीखे कड़े पदार्थ की बनी हुई होती है। वह छीजकर

धीरे-धीरे गल जाती है। उसकी जगह नीचे की तह की नई पेशियो से पूरी होती है। ऊपर की तह रवेदार और अधिक साफ होती है। नीचे की तह को मल्पीगियन * तह कहते है। बाहरी त्वचा में मज्जाततु अथवा रक्तवाहिनिया (ब्लड वेसल्स) नही होती। उसकी पेशियो का पोषण निचले हिस्से की रक्तवाहिनियो से झरनेवाले रस (लिफ) से होता है। इस त्वचा से भीतरी भाग की रक्षा होती है। इसका भीतरी त्वचा की ओर का हिस्सा सर्प की आकृति में मुडा होता है और उसके बिलकुल नीचे की तह में एक तरह का काले-से रंग का द्रव्य होता है। वह झरनेवाले रस के कारण वहाँसे वहा जाया जाता है। उसकी कमो-बेशी पर आदमी का गोरा या कालापन निर्भर रहता है। बाह्य त्वचा के पृष्ठभाग की चपटी पेशी पर नीचे की भीतरी त्वचा में की रोग-विकृति का खासा परिणाम होसकता है।

भीतरी त्वचा अथवा असली त्वचा बाहरी त्वचा की भीतरी ओर होती है। उसमे सफेद और लचीला पेशीजाल, केशवाहिनी (ब्लड कपिलरीज), रसवाहिनी (लिफ्याटिक्स) मज्जाततु, घर्मपिंड, स्नेहपिंड (सेबशियस ग्लैंड), रोओ की जडें और कुछ स्नायुतंतु इत्यादि होते है। बाहरी त्वचा के नीचे के सर्पमोड के हिस्से की तरह ही भीतरी त्वचा का भी ऊपरी भाग सर्पमोड आकार का ही होता है। इसमें के उठे हुए हिस्से मे केशवाहिनिया और स्पर्शज्ञान करानेवाले मज्जाततुओ के सिरे होते है। कुछ हिस्से मे इस मज्जाततु के सिरे पर फुलावट जान पडती है। उनके द्वारा स्पर्शज्ञान होता है, इससे उसे स्पर्शगोलक (टच काप्स्युस्कल) कहते है। त्वचा के निचले हिस्से में चरबी की तह

* इटाली में मार्सेलो मल्पीगी नाम के शरीरशास्त्रवेत्ता ने इसकी खोज की थी, इसलिए उस तरह का यह नाम मिल गया है।

होती है। वह शरीर की गर्मी को बाहर नही जाने देती।

घर्मपिंड (स्वेट ग्लेंड) त्वचा के निचले हिस्से में होते हैं। प्रत्येक पिंड सूक्ष्म रक्तवाहिनियो से घिरा हुआ एक प्रकार का शिराओ का मल ही होता है। उससे निकलनेवाली घर्मनलिका (स्वेट डक्ट) ऊपर जाकर त्वचा के पृष्ठभाग पर खुलती है। चमडी के पृष्ठभाग पर हम जो अनेक छिद्र दिखलाई देते है वे इस घर्मनलिका के मुह है। भीतरी त्वचा मे ऊपर को जाते यह घर्मनलिका सीधी होती है। पर बाहरी त्वचा मे से ऊपर को जाते वह सर्पमोड जैसी होती है।

रोये सींग सरीखे कडे पदार्थ से बने हुए है। बाहरी त्वचा से उनकी उत्पत्ति होती है। बाहरी त्वचा की एक खाच (फॉलिकल) भीतरी त्वचा तक गई हुई है। उसके नीचे जो रोमो का बूद सरीखा मोटा हिस्सा होता है उसे रोममूल कहते है। उस रोममूल के नीचे के हिस्से मे सूक्ष्म रक्तवाहिनिया और मज्जातंतु जुडे हुए होते है। जड से रोमों तक एक सूक्ष्म स्नायु का सयोग भी रहता है। ठढक या भय की वजह से उसके सिकुडने पर रोयें खडे होजाते है। जड से निकलकर रोओं का जो बाला भाग चमडी के बाहर निकलता है, उसे रोड कहते है।

स्नेहपिंड (सेबेशियस ग्लेंड)—यह सूक्ष्म ग्रथी रोओं के बगल में होती है। उसमें से तेल सरीखा सीबम नामक एक पदार्थ निकलकर त्वचा पर फैलता है। उससे रोए और त्वचा चिकने और मुलायम रहते है।

भीतरी त्वचा मे शुद्ध और अशुद्ध रक्तवाहिनियो और मज्जातन्तुओं से बने हुए भाग दो जाल (प्लेक्सस्) फैले हुए होते है। इसमें एक भीतरी त्वचा और उसके नीचे के पेशीजाल में होता है। इसे त्वचा के नीचे का जाल कहते है। दूसरा आन्तरिक त्वचा और बाह्य त्वचा

चित्र ७

५ व्या व ७ व्या शीर्षीय मज्जातंतूचा लकवा,
चलनवलन क्रियेत बिघाड ।

के बीच के सर्पाकृति भाग के नीचे होता है। इसे त्वचा के बीच का या ऊर्ध्व (उपरला) जाल कहते हैं। भीतरी त्वचा के नीचे की शिराओ और मज्जातंतु मे से निकली हुई शाखा से नीचे का जाल बना हुआ होता है। इससे सूक्ष्म उपशाखा निकलकर रोममूल घर्मपिंड और स्नेहपिंड को घेरकर त्वचा मे के ऊपर के जाल तक पहुची हुई है। इस ऊर्ध्वजाल से फिर अधिक सूक्ष्म उपशाखा निकलकर सर्पाकृति भाग तक गई हुई है।

त्वचा और मज्जातंतु मे के ससर्ग का प्रसार

जब कुष्ठससर्ग त्वचा मे पहुचता है तब या तो रक्त में के रोग-जतुओ को खा डालनेवाले श्वेतभक्षक गोलको (फ्यागोसिट) द्वारा नष्ट होजाता है अथवा फिर वह शिराओ और मज्जातंतु के जाल के मार्ग से पसरने लगता है। कुष्ठज्वर अथवा तात्कालिक जोरदार पेशी की प्रतिक्रिया शुरू होने की वजह से रक्तपेशी रुग्णको पर हमला करके भक्षक गोलको के द्वारा कुष्ठजतुओ का नाश करती है। हमेशा की साधारण परिस्थिति में त्वचा और मज्जातंतु में की कुछ पेशिया कुष्ठ-जतुओ का प्रतिकार करती है। कुष्ठजतुओ का नाश करने मे भाग बंटानेवाली इस पेशी का 'माइक्रोफेज' नाम रक्खा गया है। वह वाहिनियो से सटे हुए सामने के पेशीजाल मे होती है इसलिए उसे परिवाहिनी पेशी कहते है।

त्वचा में प्रवेश किये हुए कुष्ठजतुओ की वृद्धि पेशी के अदर और एक पेशी से दूसरी के बीच के रससस्थान (लिफ स्पेसेस) मे होती है। संसर्ग की वृद्धि का परिमाण और उसका शरीर मे प्रसार पेशी की प्रतिक्रिया के परिमाण पर निर्भर रहता है। और यह पेशी की प्रतिक्रिया रोगी की प्रतिकारक्षमता पर अवलबित रहती है। प्रतिकार-

शक्ति के अत्यत क्षीण रहने पर जाल के मार्ग से ससर्ग तीव्रता से फैलता रहता है । बहुत बार ऊपर के बिलकुल पृष्ठभाग की परत मे संसर्ग मर्यादित रहता है । तथापि साधारणत: कम-ज्यादा मीयाद के बाद ससर्ग रोममूल और घर्मपिंड के सामने की वाहिनियो और मज्जा ततुओ के द्वारा फैलकर नीचे के जाल मे प्रवेश करता है । वहा उसके खूब बढने की सभावना रहती है । वहासे फिर उसका ससर्ग दूसरी शाखाओ के द्वारा ऊपर के जाल मे फिर घुस सकता है अथवा उसी अवधि मे नीचे के जाल के सवेदनावाहक मज्जाततु के द्वारा अदर फैल सकता है । इस प्रकार प्रत्यक्ष त्वचा से पृष्ठीय मज्जाततु के विकृत होने की सभावना रहती है ।

कुष्ठजतुओं पर त्वचा की पेशी की प्रतिक्रिया

भिन्न-भिन्न जालो और उनकी शाखा-उपशाखाओ मे से संसर्ग बढते-बढते वाहिनियो के सामने की पेशी कुष्ठजतुओ के साथ भिडने लगती है—प्रतिक्रिया करने लगती है । यह प्रतिक्रिया तीन तरह की होती है । (१) स्वत विभक्त होकर पेशी की सख्या बढाना, (२) माइक्रोफेज पेशी का जतु को निगल लेना, या (३) अनुकूल परिस्थिति मे जतुओ का नष्ट होना । प्रतिक्रिया का तीव्र या मन्द होना विशिष्ट स्थान मे प्रत्यक्ष मौजूद कुष्ठजतुओ की सख्या और पेशी की प्रतिकार क्षमता या इन दोनो के परिमाण पर निर्भर है । इसके कारण जतु प्रविष्ट भाग और वाहिनियो के चारो ओर माइक्रोफेज पेशी के कारण उत्पन्न होनेवाला अन्तर्भेक (इन्फिल्ट्रेशन) इकट्ठा होता है । यह अन्तर्भेक कमोबेश ढीला या गाढा होता है । यह वहाके जतुओ की सख्या और पेशी की प्रतिक्रिया-शक्ति पर अवलबित होता है । इस पेशी की बाढ और उत्पन्न होनेवाले अन्तर्भेक के कारण ग्रथक पैदा होते है ।

प्रतिकारक्षम नये रुग्णको के जतु माइक्रोफेज के द्वारा निगले जाते है और उनके नष्ट होने की क्रिया जोरो से चलती है। उसकी वजह से पेशी के द्वारा बना हुआ गाढा सूक्ष्म कणसघ (ग्रन्यूलोमा) बन जाता है। उसमे सारे जतु नष्ट हुए रहते है अथवा दो-चार नष्ट होने को बाकी रहते है । यदि पेशी की प्रतिकार-शक्ति बिलकुल क्षीण हुई तो एक पेशी से दूसरी पेशी के बीच के रस-सस्थान में पेशी के भीतरी द्रव (प्रोटोप्लाज्म) मे जतु बढते रहते है। ऐसे रुग्णको की जाच की जाय तो उसमे अनेक कुष्ठजतु पाये जाते है। पर जतुओ की सख्या के मुकाबले मे पेशी के विभक्त हो-कर बढने की क्रिया हलकी होती है। वाहिनी के चारो ओर शिथिल कणसघ होता है, इसीलिए दिखाई देनेयोग्य या छूकर समझनेयोग्य लक्षण बहुत कम होते है या बिलकुल ही नही होते। इस प्रकार एक ओर प्रतिकारक्षम उदाहरण मे चिन्हित सख्ती लिये हुए छोटा-सा चकत्ता होता है, तो दूसरी ओर क्षीणप्रतिकार मे अत सेक सारी त्वचा में व्याप जाता है । सिर्फ बाहरी लक्षण नही-से होते है।

त्वचा से मज्जातंतु में पसरनेवाला ससर्ग

नीचे के जाल मे ससर्ग बढते समय उस हिस्से से जुडे हुए सवेदनावाहक (सेंसरी) मज्जाततुओ मे भी उसका प्रसार होता है। ऐसे मज्जाततुओ की सूक्ष्म शाखा की जाच करने से मज्जाततु की सधि की भीतरी रेखा मे जतु मिलते है। त्वचा मे वे केशवाहिनियो और रक्तवाहिनियो के चारो ओर माइक्रोफेज पेशी के पास-पडोस मे पाये जाते है। इस वजह से उनका नष्ट करना आसान रहता है। मज्जाततुओ की सधियो मे वे केशवाहिनी से मज्जारेखा के कारण अलगाये जाते है। इस फर्क के कारण मज्जाततुओ में के जतुओ का नष्ट होना कठिन होता है।

जान पडता है माइक्रोफेज की कुष्ठजतुओ के साथ होनेवा
प्रतिक्रिया कुछ अशो मे सान्निध्य पर अवलम्बित है। इससे मध्य
प्रतिकार के उदाहरणो मे मज्जाततुओ मे के जतुओ के बजाय त्वचा
जतुओ का नाश होता है। मज्जाततुओ मे जब जतु रहते है तब पे
की भक्षण-मारण क्रिया से मानो मज्जा-रेखा के कारण उनका सरक्षण
जाता है। क्षीण प्रतिकार के उदाहरण मे—कालकुष्ठ प्रकार मे—त्व
और मज्जाततु इन दोनो मे भरपूर ससर्ग पसरा रहता है। त्वचा मे पे
का अत सेक भरपूर रहता है। सिर्फ मज्जाततु मे बिलकुल कम रहता

सौम्य कुष्ठ के चकत्तो मे त्वचा मे कणसघ गाढा बना हुआ
रहता है। उस दशा मे एकाध जतु मिले तो मिले, नही बिलकुल नही
मिलते। पर उनसे जुडे हुए मज्जाततुओ मे कणसघमय अतःसेक तो
होता है, पर तुलनात्मक दृष्टि से कुष्ठजतु बडी तादाद मे पाये जा
सकते है और वे भी वाहिनी से दूर सधि-भाग मे होते है। इसलिए
त्वचा की अपेक्षा मज्जाततुओ में के कुष्ठजतुओं को नष्ट करने मे अधिक
जोरदार प्रतिक्रिया-शक्ति की जरूरत होती है। मध्यम प्रतिकार के
उदाहरण मे त्वचा के जतुओ का नाश हुआ रहता है। परंतु पूर्णा
मे मज्जाततुओ मे वे सिर्फ दबे-से रहते है। यदि किन्ही कारणो से
प्रतिकार-शक्ति किसी समय कम होगई तो वे मज्जाततुओ मे से त्वचा मे
फिर प्रवेश करने लगते है, यह सभव है। प्राय यह देखा गया है कि उ
समय जो चकत्ते अच्छे-से होगये थे उनमे फिर रोग-वृद्धि के लक्षण
दिखाई देने लगे।

प्रतिकार-शक्ति मे चढ़ाव-उतार

प्रतिकार-शक्ति की कमी-बेशी के अनुसार लक्षणों के प्रकट औ
सूक्ष्म शरीर-स्वरूप मे अतर होता है, यह ऊपर कह आये है। प्रतिका

शक्ति मे का चढाव-उतार भी रुग्णको के स्वरूप निश्चित करने का एक महत्त्व का साधन है। प्रतिकारशक्ति के इस चढाव-उतार के कारणो का आगे सत्रहवे प्रकरण मे विचार किया जायगा।

यदि प्रतिकारशक्ति किसी वक्त कम हुई तो जतु बढने लगते है, त्वचा और मज्जाततु दोनो मे पसरते है। वक्त से अगर प्रतिकार-शक्ति फिर पहले की भाति होगई तो एकत्र कुष्ठजतुओ से पेशी का तीव्र प्रतिकार शुरु होजाता है। इसे 'आरोग्य-स्थापन' (रिकवरी) की प्रतिक्रिया कहा जासकता है। सौम्य कुष्ठ के रोगी जब सहचारी रोग मे से सुधार की ओर अग्रसर होने लगते है अथवा क्षीणता लानेवाले कारण खत्म होजाते है तो ऐसा अक्सर होता है। उस समय त्वचा के और मज्जाततुओ के बाहरी लक्षण बिलकुल साफ दिखाई देते है।

यदि क्षीणता के कारण बहुत तीव्र या देर तक टिकाऊ हुए, तो प्रतिकारशक्ति हमेशा के लिए क्षीण होने का भय रहता है। फिर आरोग्य सुधरने पर रोग को रोकनेवाली पेशी की प्रतिक्रिया पूरी जोरदार न होने की सम्भावना रहती है। अथवा प्रतिक्रिया के कारण रोग की सकरता अथवा घालमेल होजाती है और फिर प्रतिकार-शक्ति गिर जाती है।

कभी-कभी त्वचा की प्रतिकार-शक्ति इस दर्जे की होती है कि बाहरी लक्षणो से समझ मे आनेयोग्य त्वचा के रुग्णको का होना टल जाता है। परतु सवेदनावाहक मज्जाततुओ मे से जतुओ का ऊपर फैलकर आरत्निक (अल्नर) सरीखे मिश्र मज्जाततुओ मे जाना नही रुकता। इस प्रकार मुख्य मज्जाततु कुष्ठविकृत होजाने से गाढापन या कोमलता अर्थात् स्पर्शतासहत्व (टेडरनेस) आता है। उसकी वजह से पैदा होनेवाला पोषण, हलचल और सवेदना सबधी (ट्राफिक,

मोटर, सेसरी) लक्षण दिखाई देने लगते हैं। ऐसे शुद्ध अथवा केवल मज्जाततु-कुष्ठ के उदाहरण कम ही होते हैं। जब मज्जाततु विकृत होते हैं, तब साधारणत उनसे व्याप्त भाग मे त्वचा के रुग्णक होते हैं अथवा पहले रुग्णक होकर बदली हुई शक्ल मे चकत्ते वगैरा आदि लक्षण रहते हैं।

स्वयंमुक्तता

यह बात खूब ध्यान मे रखनी चाहिए कि क्षय की भाति कोढ भी अत्यल्प (स्लाइट) रोग होसकता है। ससर्ग पहुच जाने पर भी वह निष्फल अथवा अनुत्पादक भी रह सकता है। यत्किचित रुग्णक हुए भी तो बिना इलाज के अपनेआप ही अच्छे होसकते हैं। इसके दृढ प्रमाण हैं कि रोगग्रस्त प्रदेशो मे बहुतेरे उदाहरणो मे स्वयमुक्तता होती है। इस प्रकार अपनेआप दुरुस्ती होना यह रोगी के सर्वसामान्य आरोग्य मे वक्त से अच्छा सुधार होने पर निर्भर रहता है।

कोढ की अतिप्रगत अवस्था मे भी स्वयमुक्तता बहुत बार आती है। कुपित अवस्था मे पहुचे हुए रोगियो में फिर ससर्ग का कम होता जाता है। रोगी फिर लौटकर सौम्य कुष्ठ में पहुंचता है। पूर्वरोग के शेष चिन्हो के रूप मे चेहरे और हाथ-पैरो पर कुरूपता और व्यगता बाकी रहती है। ऐसो को रोग जलकर मुक्त हुए (ब[illegible] आउट) रोगी कहते हैं। ऐसे उदाहरणो मे जन्तु क्यो और कैसे नष्ट होते हैं, इसका अभीतक ठीक फैसला नही होपाया है।

मज्जा-रेखा का एक सयुक्त पदार्थ ही है। ये सब ततु मज्जा-पेशी से
निकले हुए होते हैं। सयोगी पेशी-जाल से वे एक-दूसरे से गुथे हुए होते हैं

बिजली डाइनमो मे तैयार होती है। तार सिर्फ उसके वाह
है। वैसे ही मज्जापेशी मे प्रेरणा पैदा होती है और मज्जाततु उस
वाहकमात्र है। प्रेरणा उत्पन्न करना, दूसरी ओर से आई हुई प्रेर
को स्वीकारना और स्वीकार की हुई प्रेरणा को दूसरी ओर भेजना
तीन काम मज्जापेशी करती है। प्रेरणा मज्जाततु मे अपनेआ
पैदा नही होसकती। जो मज्जाततु शरीर के भिन्न-भिन्न भाग
प्रेरणा को मस्तिष्क की ओर अथवा मज्जारज्जू (स्पायनल का
के पास पहुचाकर वहा सवेदना उत्पन्न करते है, उन्हे सवेदनावा
(आफरट सेंसरी) मज्जाततु कहते हैं। मस्तिष्क या मज्जारज्जू
ओर से आनेवाला सदेश या आज्ञा शरीर के भिन्न-भिन्न भागों के
जिन मज्जाततुओं के द्वारा पहुचाई जाती है उन्हे 'आज्ञावा...
(इफरट) मज्जाततु कहते हैं। इन दूसरे मज्जाततुओं के तीन प्रका
है। (१) स्नायु की ओर जानेवाले मज्जाततु। इनकी सहायता
स्नायु का आकुचन होता है। इन्हे 'गतिवाहक' (मोटर) मज्जात
कहते हैं। (२) भिन्न-भिन्न ग्रथियों की ओर जानेवाले मज्जाततु। इनकी
सहायता से ग्रथियों में स्राव उत्पन्न होता है। इसे 'रसविमोचक
(सिक्रेटरी) मज्जाततु कहते हैं। (३) रक्त के बहाव का नियत्र
करनेवाले मज्जाततु। इनके सयोग से रक्तवाहिनी की दीवारों
स्नायुओं का सकोचन और प्रसारण होता है। किसी हिस्से को रक्त
कम या ज्यादा पहुचाने की जरूरत हुई तो वह काम इनके द्वारा हो
है। इन्हे 'धमनीचालक' (वाझ्मो मोटर) मज्जाततु कहते हैं। बहु
जगह सवेदनावाहक और आज्ञावाहक दोनों प्रकार के ततु एक ही

मज्जाततु में होते हैं। इन्हें 'मिश्र' मज्जातंतु कहते है। त्वचा के बिलकुल पृष्ठभाग के पास जो सूक्ष्म मज्जातंतु हैं उन्हे 'पृष्ठीय अथवा वहिर्मुख' (पेरीफीरल) कहते हैं।

मज्जातंतु में संसर्ग के प्रवेश की रीति

पृष्ठभाग के मज्जाततुओ का रक्त-प्रवाह के जरिये कुष्ठजतुओं द्वारा विकृत होना सभव है। तथापि यह बात साधार है कि जंतु खासकर त्वचा से ऊपर चढनेवाले ससर्ग के कारण नीचे के जाल में के सवेदनावाहक मज्जाततुओ मे प्रवेश करते है। जहा आरभिक सौम्य कुष्ठ का एक ही चकत्ता है और उससे सलग्न भिन्नमूल की ओर जानेवाले दो मज्जाततु हैं ऐसे एक रुग्णक को जाच के लिए लीजिए, उसकी जाच से जतु-प्रवेश के उपर्युक्त कायदे की पुष्टि हो जायगी। एक उदाहरण मे कान के ढकने पर एक चकत्ते जितना ही त्वचा का रुग्णक था और सख्त हुए मज्जाततु ठीक बाह्यकर्णीय (आरिक्यूलर) और कर्णशखीय (आरिक्यूलो-टेंपोरल) ही पाये गये। दूसरे उदाहरण में हाथ के पिछले हिस्से में चकत्ते जितना ही त्वचा का रुग्णक था। उस हिस्से से सम्बद्ध आरत्निक (अल्नर) और प्रकोष्ठीय (रेडियल) मज्जाततुओ की शाखाएं खूब सख्त हुई पाई गई। ऐसे बहुत उदाहरण मिले हैं। इससे अपने आप ही यह अनुमान निकलता है कि पहले त्वचा विकृत होती है और बाद को उसके द्वारा पूरक मज्जातंतुओ मे संसर्ग फैलता है। बहुत बार त्वचा में आदिवाला ससर्ग नष्ट हो जाता है और वह सिर्फ मज्जाततुओ मे ही रहता है। इसका कारण यह है कि कुष्ठजतु त्वचा की अपेक्षा मज्जातंतुओं के समूह में सुलभता से डेरा जमाकर रहते और बढते हैं। इसी वजह से मज्जाततु कुष्ठजतुओ के एकत्रित होने का स्थान बनता होगा।

ससर्ग के त्वचा के नीचे के जाल मे रोओ की जड के चारो
त्वचा के सर्पाकृति भाग मे और उसकी नीचे की तह मे प्रवेश
पर नया सूक्ष्म कणसघ (ग्रन्युलोमा) तैयार होता है, और
मे दिखाई देने लायक फुसियो का समूह का समूह, पहले के
की सीमा के बाहर को उभरा हुआ दिखाई देता है मानो यह रोग के
नया प्रदेश तलाशनेवाले चर हो। इस कारण उनका पुरोगामी
(पायनीयर पप्युल्स) नाम पड गया है। त्वचा के नीचे के मज्जातंतु
म कुष्ठजतुओं का जो एक प्रकार का जमाव रहता है, उसमे से
त्वचा म ससर्ग जा सकता है। उसकी वजह से शुरू के चकत्ते म
ससर्ग पहुचता है, अथवा पडोस की नई त्वचा कुष्ठ-विकृत होती है
रोगी की प्रतिकार-शक्ति के बीच की बीमारी के कारण अथवा ता
लिक अशक्ति के कारण क्षीण होने पर अक्सर ऐसा होता है।

सूक्ष्मग्रन्थि (ट्यूबरक्युलाइड) प्रकार के चकत्तो का छीलन (
अथवा विलेप (स्मीयर) लेकर जाचने पर जतु नही मिलेंगे। मिले भी
कभी प्रकार मिल जा सकते है। तथापि उस चकत्ते मे कितने ही
अथवा साल तक जागृति अथवा क्रियाशीलता (ऐक्टिविटी) के
मिलते है। उसका प्रकार या आकार करीब-करीब उतना ही रहता है
रोग चकत्ता के हठीलेपन की ठीक उपपत्ति उपर्युक्त स्पष्टीकरण मे है
है। जल्दी बल्कि रोग धीरे-धीरे आगे सरकाते जाने से एकसा
रहती है, ये ही पुरुष मज्जातंतुओं के संग्रह म से निरन्तर अथवा
बार म दुबारा ससर्ग होते रहने से य चकत्ते निरतर क्रियाशील रहते है।
[illegible] उदाहरण मे कुष्ठजतु मज्जातंतुओ मे से ज्यो-ज्यो त्वचा म पहुच
जाते है त्यो-त्यो नष्ट होते जाते है। इस वजह से वहा मद
[illegible] रहती है।

क्षीण प्रतिकार के उदाहरण मे ससर्ग मज्जाततुओ मे से बिना रोक-टोक के फैल सकता है। पेशी की प्रतिक्रिया नही-सरीखी रहती है। इसकी वजह से मज्जाततुओ के लक्षण नहीं मिलते। कालकुष्ठ के स्पष्ट उदाहरण मे प्रतिकार-शक्ति क्षीण होती है और ये मज्जाताल्वीय लक्षण भी नही होते। परतु ऐसे उदाहरणो मे यह नही समझना चाहिए कि मज्जाततु कुष्ठविकृत नही है। इसके विपरीत सौम्यकुष्ठ की अपेक्षा काल-कुष्ठ मे मज्जाततुओ मे अधिक जतु पाये जाते है।

स्पर्शशून्यता अथवा दूसरे मज्जाताल्वीय लक्षण जतुओं से निकलने-वाले विष के कारण पैदा नही होते। वैसे ही, मज्जारेखा पर जतुओ का दवाव पड़ने से भी उनकी उत्पत्ति नही होती। इन लक्षणो की उत्पत्ति का कारण है जोर से प्रतिक्रिया करनेवाली और विभक्त होकर वढने-वाली पेशियो के कारण कणसघ का बनना और उसका आक्रमण करना। मज्जाततुओ के समूह मे अथवा समूह-समूह के बीच की केशवाहिनियो से यह पेशी गुथी रहती है। इस पेशी की प्रतिक्रिया पहले केशवाहिनियो के निकट के जतुओ के कारण होती है, आगे चलकर पेशी विभक्त होकर बढती है और जतुओ को निगलने लगती है और जब यह क्रिया जोर पकडने लगती है तब वाहिनियो से दूर के हिस्से के मज्जारेखा मे के जतुओ के कारण भी ऐसा होने लगता है।

ऐसी दशा मे मज्जाततु की सूक्ष्म शाखा की तिरछी छीलन जाच के लिए ली जाय तो उसके मध्य भाग मे षट्कुष्ठिका (लेप्रोमा) पाई जाती है, जतु नही मिलते। मज्जारेखा नष्ट हुई मिलती है। सिर्फ सीमा के पास जतु मिलते है, कुष्ठिका नही होती और मज्जारेखा साबित रहती है। जतु कम होकर भी मज्जाजतुओ के बाहरी और स्वसवेद्य लक्षणो का अधिक स्पष्ट होना यह प्रतिकारक्षम उदाहरण मे-

ही होता है। क्षीण प्रतिकार के उदाहरण मे उस हिसाब से नही होता।

यहा एक प्रश्न यह पूछा जायगा कि ऐसे प्रतिकारक्षम उदाहरण म जतु मुख्य स्तभ तक मज्जातनुओ मे से ऊपर जाते ही कैसे है? पृष्ठभाग के पास के मज्जातनुओ मे रहते हुए पेशी की निगलने और मारने की क्रिया से उनकी रक्षा कैसे हो जाती है? यह नही है कि प्रतिकार शक्ति हमेशा एक-सी ही रहती हो। अलग-अलग व्यक्तियो में वह भिन्न भिन्न होती है, उसी प्रकार एक ही व्यक्ति मे भी परिस्थिति-भेद से कम ज्यादा होती रहती है। प्रतिकारशक्ति जहा क्षीण हुई कि जतु फैलने लगते है, और जोरदार हुई कि पेशी की प्रतिक्रिया शुरू हो जाती है। प्रतिकार-शक्ति के गिरने पर जतुओ को दूर तक फैलने का मौका मिलता है।

मज्जातनुओ मे से ऊपर जाते हुए घाव या रुकावट की जगह पर जमा होने की जतुओ की प्रवृत्ति रहती है। जहा शाखाए मिलती है अथवा मज्जातनु स्नायु के, श्वेततनु पेशीजाल के, अथवा हड्डी के वक्र भाग की ओर मुड़ते है, अथवा सकडे छिद्रो मे से जाते है वहा रुकावट की अधिक सभावना रहती है। पृष्ठीय मज्जातनु जब हड्डी से सटे रहते है तब उनके व्रण होने का ज्यादा खटका रहता है। जब क्षीण प्रतिकार-शक्ति अच्छी तरह सुधर जाती है तब ऐसे जतु जहा सक्रिय रहते है वहा मज्जातनु विशेष मग्न हो जाते है। कारण दूसरे प्रकार जतुओ की अपेक्षा जतुओ के समूह के कारण पेशी की प्रतिक्रिया ज्यादा जोर से शुरू होती है। इसी वजह से केहुनी के पास से मुड़े हुए आर्नलर (अलनर), घुटने की गुल्फास्थि (फिब्यूला) के पास से मुड़ते हुए पेरोनियल और कान के पास के स्नायु की तरह से मुड़ते हुए बड़ा [illegible] (ग्रेट आरिक्युलर) मज्जातनु यह बहुत

मज्जातन्तुओं में का अमुखव्रण

कुष्ठ-विकृत मज्जाततुओ मे पनीर सरीखा चिकटा पदार्थ बनने के बाद कुपित उदाहरणो मे अमुखव्रण भी बन जाते है। क्षय रोग मे रस-ग्रथि मे ऐसी ही जो क्रिया होती है उससे इसका बहुत साम्य है। ऊपर फैलते हुए कुष्ठजतु रुकावट होने की वजह से जहा इकट्ठे होते है उस जगह इस क्रिया के होने की बहुत सभावना रहती है। कभी सिर्फ पनीरीभवन होता है, कभी यह चिकटा पदार्थ तो बनता ही है पर बीच मे द्रवरूप होता है। कभी श्वेततंतुमय वेष्टन मे केवल द्रवरूप पदार्थ ही रहता है। यह अमुखव्रण मज्जाततु के ठीक बीच मे रहता है, और मज्जाततु वेलन जैसा दिखाई पडता है। कभी यह हिस्सा किनारे की ओर सरक कर मज्जाततु के एक हिस्से मे थैली की तरह जुडा रहता है। भीतरी मवादी हिस्से का मज्जारेखा पर जितना अधिक भार रहता है उतने ही मज्जाततु के लक्षण सबद्ध भाग मे अधिक होते है। बहुधा ये फोडे फूटते है और भीतरी द्रव्य निकल जाता है। पर साधारण नियमानुसार तो बहुतकाल तक वह वेष्टन मे बन्द रहता है। भीतरी पीपवाले भाग के भार और उससे होनेवाले लक्षणो के प्रमाण मे उसके निचुड जाने पर रोगी को आराम मालूम पडता है।

यह अमुखव्रण शीघ्रपरिणामी अथवा चिरकाली-जीर्ण रूप का होता है। एक भी होता है और अनेक भी, कभी इसकी एक पाती-की-पाती सी होती है। सूक्ष्म शाखा से लेकर आरन्निक सरीखे बडे, मिश्र, सब प्रकार के मज्जाततुओ मे यह होता है। आरन्निक, पृष्ठभाग के पास के प्रकोष्ठीय, बाह्यकर्णीय अथवा गुल्फ मज्जाततुओ मे यह बहुतायत से पाया जाता है। अमुखव्रण की परीक्षा मे कुष्ठजतु कदाई नही पाये जाते। मवाद

वाले हिस्से मे एकाध या गुच्छा-का-गुच्छा मिलने की सभावना अधिक रहती है। बेठन में अथवा पास की मज्जारेखा मे उस हिसाब से कम मिलने की बात रहती है। ऐसे मौको पर मवादवाले हिस्से मे वद हो-जाने के कारण निगलने और मारने की क्षमतावाली पेशी (माइक्रोफेज) से उनकी रक्षा होती होगी।

मज्जातंतु का आकुंचन

कुष्ठजंतुओं पर पेशी की प्रतिक्रिया होते हुए मज्जाततुओ के बेठन का खूब सख्त होना सभव है। इसकी वजह से वह मजबूत और न झुकने वाला वन जाता है। ऐसे बेठन मे जब तीव्र दाहजन्य क्रिया शुरू होती है और उसके कारण रक्त जमकर (कजेश्शन) सूजन आती है तब मज्जारेखा पर खूब भार पडता है। उसकी चालू क्रिया में रुकावट पडती है। भार दीर्घकालीन और बहुत अधिक हुआ तो वह नष्ट भी होजाता है। कठिन रध्र मे जाने के स्थान पर मज्जाततुओ का आकुचन तो अधिक दु सह होने की सभावना रहती है। कोने के हिस्से की ओर झुकते हुए श्वेतततु (फायब्रस) पेशीजाल से आरत्निक (अल्नर) हड्डी से ढका जाता है। पेरोनियल का भी गुल्फास्थि के पास से जाते हुए यही हाल होता है। मज्जाततुओ के एक दम सूज जाने पर श्वेतततुओ के आकुचित हुए बधन अगर वक्त से काट न दिये गये तो हिलना, डुलना, पोषण और सवेदना मे हमेशा के लिए विकृति पैदा हो जाती है या व्यग्यता आजाती है।

उसी प्रकार चेहरे के मज्जाततुओ के सूजने पर छिद्र में से जाते हुए ढके जाने की सभावना रहती है। उस समय चेहरे के एक ओर पूरा लकवा—पक्षघात (परिलिसिस) हो जाता है। सौम्यकुष्ठ के प्रतिकार-क्षम उदाहरण मे जब चेहरे पर विस्तृत रुग्णक रहते है तव वहां

लकवा (पेरीसिस) होना बराबर होनेवाली चीज है। उसकी वजह से चेहरा पुतले की तरह भावशून्य (मास्क लाइक अपियरेंस) होजाता है। इस प्रकार के रोग का वह एक विशेष लक्षण ही है। चेहरे की त्वचा में शून्यता आने की वजह से उसके नीचे के भाव व्यक्त करनेवाले स्नायु क्रिया करने में अशक्त असमर्थ हो जाते हैं। आंखों की पपनियां और मुंह खोलने बन्द करनेवाले स्नायुओं का भी यही हाल हो जाता है। प्रगत रोगी बहुत बार मजबूरन होंठ नहीं बन्द कर पाते और बराबर लार गिरती रहती है। चेहरे के मज्जाततुओं में रुग्णक होने पर ऐसा होता दिखाई नहीं देता। ऊपर की स्पर्शशून्यता के कारण नीचे के स्नायुओं की कायम की आरोग्यस्थिति न रह जाने पर यह संभव है। उसी प्रकार ऊर्ध्वाक्षिकोषीय (सुप्रा आर्बिटल) मज्जाततु हड्डी के छेद में से अक्षि-कोष में जाते हुए जब बहक जाता है तब कपाल के एक हिस्से में बधिरता आती है। उसी के साथ कपाल में ऊपर को जाने वाले स्नायु के (आक्सिपिटो फ्रान्टैलिस) उसी अंग को आधा लकवा भी होजाता है।

दसवां प्रकरण

कोढ़ के प्रकार

प्रकट-रोग-लक्षण की दृष्टि से कोढ़ के मुख्य दो प्रकार हैं। (१) मज्जातन्तवीय (न्यूरल) अथवा सौम्यकुष्ठ और (२) कालकुष्ठ (लेप्रोमटस)। सन् १९३८ में काहिरा (इजिप्ट) में इंटरनेशनल लेप्रसी कांग्रेस (अन्तर्राष्ट्रीय कुष्ठ कांग्रेस) ने इन मुख्य दो प्रकारों की व्याख्या नीचे के अनुसार स्वीकार की थी

१. मज्जातांत्वीय (म) प्रकार—कोढ के सौम्य रूप के सब उदाहरण। इनमे (१) पृष्ठ भाग की सवेदना मे परिवर्तन, पोषण विषयक बिगाड़, अपोषण-क्षय (लकवा अथवा पक्षाघात), मज्जाततुओ की ज्ञानवाहक और हिलने-डुलने की क्षमता का क्षीण अथवा नष्ट होना। और इनसे होनेवाले दूसरे अप्रत्यक्ष परिणाम ये सारी खराबिया मज्जाततु-दाह के (न्यूरायटिस) शक्ल की होती है। (२) सवेदना की खराबी से होने पर स्थानबद्ध चकत्ते अथवा मडल होते है। अथवा (३) दोनो प्रकार के रुग्णक एकत्र पाये जाते है। ऐसे रोगी मे ससर्ग की पेशीप्रतिक्रिया ठीक परिमाण मे होती रहती है। साध्यासाध्य विचार (प्राग्नोसिस) की दृष्टि से इसमे रोगी शायद ही मरता है। सिर्फ अवयव के बदशक्ल अथवा विकृत होने का खटका रहता है। लेप्रालिन परीक्षा साधारणत अस्तिपक्ष मे अथवा भावरूप होती है। त्वचा के रुग्णको मे सूक्ष्मदर्शक परीक्षा मे निरपवाद रूप से न सही तब भी बहुत करके जन्तु नही पाये जाते। नाक की श्लेष्मल त्वचा की जाच में जतु पाये जा सकते हैं। सूक्ष्मशरीरशास्त्र की दृष्टि से (हिस्टालाजिकली) बहुतेरे रुग्णक सूक्ष्म ग्रथि से बने हुए—'सूक्ष्म ग्रथिल' (ट्यूबर क्युलाइड) होते है।

२. कालकुष्ठ (क) प्रकार—नाम के मुताबिक ही यह कोढ का विकट और दुश्चिकित्स्य प्रकार है। इसमें रोगससर्ग पर पेशीजालकी प्रतिक्रिया लगभग नही ही होती है। यह दु साध्य स्वरूप होता है। लेप्रालिन परीक्षा अभावरूप (नास्तिपक्ष में) होती है। त्वचा और दूसरे अवयव विशेपकर मज्जाततु का मुख्य स्तभ (ट्रक) कुष्ठविकृत हो जाता है। सूक्ष्मदर्शक परीक्षा में अनेक जतु पाये जाते है। मज्जाततुदाह विषयक खराबी होती भी है और नही भी। प्रथम अवस्था

के कालकुष्ठ के रुग्णको मे आरभ मे वह खराबी नही होती है। किंतु आगे चलकर होती है। सौम्यकुष्ठ से कालकुष्ठ मे बदले हुए रुग्णको मे वह प्राय पाई जाती है।

मज्जातांत्वीय अथवा सौम्य कुष्ठप्रकार

मज्जातान्त्वीय रुग्णको के (१) मडलीय (मॅक्युलर) और (२) स्पर्शशून्य (अनेस्थेटिक) ऐसे उपप्रकार है। मडलीय उपप्रकार मे त्वचा और मज्जातंतु इन दोनो के लक्षण होते है, त्वचा पर चकत्ते नहीं होते। मडलीय उपप्रकार के सादे मडलीय (सिंपल मॅक्युलर) और सूक्ष्मग्रथिल (ट्यूबरक्युलाइड मेक्युलर) भेद है। मडलीय प्रकार के ही रुग्णक ज्यादा होते है। सादे मडलीय मे चकत्ते साधारणत सपाट होते है। सूक्ष्म ग्रथिल मे मोटे, ऊपर उठे हुए, रवेदार और छूने में सुरदरे होते है। उनकी मोटाई और रवेदारपन के प्रमाण के हिसाब से सूक्ष्म ग्रथिल के प्रधान और गौण दो सूक्ष्म उपभेद किये जाते है। नीचे इन सब मडलीय उपप्रकारो का एक साथ ही विचार करेंगे।

(१) मडलीय स्थानीय

मज्जातान्त्वीय अथवा सौम्यकुष्ठ के इस मडलीय उपप्रकार में त्वचा पर गोल स्वर्णाकार अथवा बिना किसी खास आकार के स्पष्ट खासकर सिरे की ओर मडल अथवा चकत्ते होते है। उनमें निम्नलिखित एक अथवा कई परिवर्तन होते है :—

१—रंगहानि (फीकापन होना)

२—स्पर्शज्ञान की संवेदनाशक्ति में ह्रास

३—मडल में मज्जातन्तु-परिसर का मग्न हो जाना

४—मोटाई और लाली, खासकर किनारे के हिस्से पर। कुछ में इन्हें भी और सुमार्ग।

५–पसीना निकलने मे खरावी होने मे पैदा होनेवाली खुश्की, वालो की वाढ रुकना इत्यादि ।

वर्णहानि सामान्य रूप से अशत होती है, पूर्णत नही । रुग्णको के कुछ हिस्से मे अधिक तो कुछ मे कम होती है । कभी लाली के कारण तो कभी मासदाहक (कास्टिक) पदार्थ लगाने से कलझाये हुए मोटे दागो की वजह से फीकापन ढक जाता है ।

पृष्ठभाग की सवेदनाशक्ति के ह्रास मे भी ऐसी ही कमी-वेशी होती है । चेहरे पर के रुग्णको मे तो वह नाममात्र को होती है । धड पर के (ट्रक) रुग्णको मे उसकी अपेक्षा अधिक और हाथ-पाव के रुग्णको में सवसे ज्यादा होती है । सारी सवेदनाशक्ति मे भी एक-सी विकृति नही होती । साधारणत. शीतोष्णसवेदना पहले विकृत होती है । इसके वाद सुख-दु ख-सवेदना और अत मे स्पर्श-ज्ञान का खातमा होता है । इस सवेदनात्मक अतर के साथ वहुत वार विकार के कारण वढा हुआ अति तीक्ष्ण स्पर्शज्ञान (हायपरस्थेशिया), हाथ पावो पर चुनचुनाहट, लहर उठना, आघात करने पर झनझनाहट अथवा पीडा होना इत्यादि जिन्हे रोगी खुद समझ सकता है (स्वयमवेद्य) फरक-भी होता रहता है ।

रुग्णको से सवधित पृष्ठीय मज्जाततुओ की सख्ती का जाच द्वारा समझ मे आना आसान नही है । वहुत वार मज्जाततु खूब सख्त होते है । विशेषत रुग्णको के मोटे होने पर मज्जाततुओ की सख्ती सहज मे मालूम हो जाती है । पृष्ठीय मज्जाततु से सवध रखनेवाले शरीर-विभाग का पूरा ज्ञान प्राप्त करके ठीक जाच करने से मज्जाततुओ की सख्ती ध्यान मे आ सकती है । यह सख्ती ऐसे मज्जाततुओ की उपशाखा से लेकर मुख्य स्तभ तक पसरी हुई पाई जाती है । स्तभ भी वहुत वार सख्त होता है

क्रियाशील रुग्णको मे मोटाई और लाली साधारणत पाई जाती है। उसका परिमाण भी कमोबेश रहता है। जो चकत्ते मोटे हो गये हैं उनमें यह ज्यादा दिखाई पडती है। कभी यह मोटाई और लाली भी और सिर्फ किनारे की ओर ही होती है, कभी दोनो ही बिलकुल साफ होती है और रुग्णक के सारे-के-सारे बाहरी हिस्से को घेरे है। कभी-कभी उसकी बहुत ज्यादती रहती है और सारे हिस्से मे रहती है। उसकी वजह से बाहरी त्वचा की बारीक पपडी [illegible] कभी प्रत्यक्ष व्रण उत्पन्न होकर भी पीडा होती है। शरीर के चकत्ते और सुर्खी लिये होते है या उससे विपरीत भी होते है। ऐसे और मोटे चकत्तो की सूक्ष्म शरीर-शास्त्र की दृष्टि से की हुई जाच आधार पर बहुत बार उसे 'सूक्ष्म ग्रथिल' सज्ञा दी जाती है।

ये ऊपर बताये हुए मडल शरीर के किसी भी हिस्से पर हो है। वे व्यास मे ½ इच जितने छोटे और १ फुट या इससे भी बडे तक हो सकते है। कभी एक ही व्रण होता है; तो कभी छोटे सैकडो की तादाद मे होते है। यह छोटे-छोटे सैकडो व्रण मोटे ४. उनका गठियल (नाड्युलर) कोढ से साम्य रहता है।

क्रियाशील रुग्णक वर्तुलाकार बढते जाते है और एक दूसरे मे परस्पर गुथ जाते है। वे कभी-कभी कई महीनो, वर्षों अथवा सदैव (अक्रियाशील) दशा मे रहते है।

(२) स्पर्शशून्य उपप्रकार

बिना व्रणो का सिर्फ मज्जातन्त्वीय कुष्ठ का यह उपप्रकार पृष्ठीय मज्जातन्तु के कुष्ठविकृत होने से पैदा होता है। रुग्णक मज्जातन्तुओ मे का सगर्भ सूक्ष्म स्नायु तक फैलते जाने से यह प्रकार होता है। बहुत बार स्पष्ट अथवा पृष्ठीय मज्जातन्तु के प्रत्यक्ष वि

आ जाती है। उसकी वजह से पैर का पीछे का हिस्सा और पैर की नली का आगे का हिस्सा स्पर्शशून्य हो जाता है। पेरोनियल स्नायु की हलचल की शक्ति क्षीण होजाती है। पैरो मे एक प्रकार की विकृति आ जाने से चाल भचककर पडने लगती है। पैर की नली के पीछे के हिस्से की ओर नीचे उतरकर फिल्ली तक जानेवाली पीछे की जघास्थिगामी (टिबियल) मज्जातन्तु फिल्ली के भीतर और बाहर की ओर विकृत होते है। उसकी वजह से पाव की नली सुन्न हो जाती है। बाहरी त्वचा विकृत और [illegible] मोटी हो जाती है। पाव के तलुए पर वेधक व्रण उत्पन्न हो जाते है।

विकृत हुए मज्जातन्तु साधारणतः मोटे और कितनी ही बार तो बहु[illegible] मोटे हो जाते है। अल्नरिक और पेरोनियल दशा मे यह विशेषरूप होता है। कभी-कभी मज्जातन्तुओ की विकृति के कारण उसमें बिना पू[illegible] का फोडा अमुव्रण हो जाता है। उसका पहले उल्लेख होचुका है।

प्रकोष्ठीय (रेडियल) मध्यगत (दड और प्रकोष्ठ की मध्यरेखा[illegible] जानेवाला मीडियन) और मस्तिष्क से निकलनेवाले पांचवें और सा[illegible] शीर्षीय (क्रेनियल) मज्जातन्तु भी मोटे होनेवालो मे से है। प्रकोष्ठ[illegible] और मध्यगत मज्जातन्तु के विकृत होने से हाथ मे शून्यता आती [illegible] [illegible] पैदा होती है।

मस्तिष्क से निकलनेवाले ५ वे और ७ वे मज्जातन्तु के कुष्ठग्रि[illegible] होने से आंखो के पारदर्शी पटल (कार्निआ) की स्पर्शशून्यता आ [illegible] है। चेहरे और अक्षिकोष (आर्बिट) के स्नायु की सचालन शक्ति [illegible] होती है, नेत्रपटल बाहर की ओर निकल आते है और नेत्रावरण पटल (कजक्टिवा) सूखी और अस्वच्छ रहती है। आखें बद [illegible]। इससे आंखो मे कोई चीज पडने पर पता नहीं चलता—उ[illegible] नहीं मालूम होता है। इससे हानि होने का भय बना रहता है।

वार नेत्रावरण की जलन (कजक्टिविटिस) पैदा हो जाती है अथवा पटल पर व्रण हो जाते हैं ।

स्पर्शशून्य सौम्यकुष्ठ जब जोर पकड जाता है तो ऐसे रोगी के पूरे-के-पूरे दोनो हाथ-पैर, सारा धड और चेहरा स्पर्शशून्य हो जा सकता है। अपोषण क्षय (लकवा) और पोषण विषयक दूसरी खराबी पैदा हो जाती है। हाथ-पावो पर और चेहरे पर व्यगता और कुरूपता आजाती है ।

इस स्पर्शशून्य उपप्रकार में सूक्ष्म दर्शक के द्वारा कुष्ठजतु बहुधा नही पाये जाते ।

(३) मिश्र प्रकार

मडलीय और स्पर्शशून्य दोनो उपप्रकार एक ही रोगी मे एकत्र भी हो सकते है । यह माना जा सकता है कि सौम्यकुष्ठ मे त्वचा पर के चकत्ते, पृष्ठीय मज्जातंतु और उसके मुख्य स्तभ तक ही ससर्ग मर्यादित रहता है । नियमानुसार तो शरीर भर मे ऐसी खराबी नहीं आती है । कालकुष्ठ से लौटकर सौम्यकुष्ठ मे आये हुए रोगी मे अथवा कुष्ठ-प्रतिक्रिया शुरू हुए रोगी मे शरीर भर में खराबी होती है ।

ऊपर वर्णन किये हुए सब लक्षणो मे (१) पृष्ठीय मज्जातंतु की निश्चित सख्ती और (२) सवेदना का ह्रास ये दोनो लक्षण कोढ का निदान करने मे निर्णायक है ।

कालकुष्ठ-प्रकार

कोढ के मुख्य दो प्रकारो की व्याख्या देते हुए, जैसा कि कहा जा चुका है, उग्र अथवा तीव्रतर रूप के रुग्णको में यह कालकुष्ठ प्रकार पाया जाता है । उसमे रोग-संसर्ग-सबंधी पेशीजाल की प्रतिक्रिया करीब-करीब नही-जैसी होती है । पेशीजाल में कुष्ठजन्तुओं की सख्या बे-रोकटोक बेहद बढती और फैल जाती है । पेशीजाल उनकी कोई प्रतिक्रिया मात्र

आ जाती है। उसकी वजह से पैर का पीछे का हिस्सा और पैर की नली का आगे का हिस्सा स्पर्शशून्य हो जाता है। पेरोनियल स्नायु की हलचल की शक्ति क्षीण होजाती है। पैरो मे एक प्रकार की विकृति आ जाने से चाल झनककर पडने लगती है। पैर की नली के पीछे के हिस्से की ओर नीचे उतरकर फिल्ली तक जानेवाली पीछे की जघास्थिगामी (टिबियल) मज्जातंतु फिल्ली के भीतर और बाहर की ओर विकृत होते है। उसकी वजह से पाव की नली सुन्न हो जाती है। बाहरी त्वचा विकृत और [illegible] मोटी हो जाती है। पाव के तलुए पर वेधक व्रण उत्पन्न हो जाते है।

विकृत हुए मज्जातंतु साधारणत मोटे और कितनी ही बार तो बहुत मोटे हो जाते है। आरत्निक और पेरोनियल दशा मे यह विशेषरूप से होता है। कभी-कभी मज्जातंतुओ की विकृति के कारण उसमें बिना मु[illegible] का फोडा अमुखव्रण हो जाता है। इसका पहले उल्लेख होचुका है।

प्रकाष्ठीय (रेडियल) मध्यगत (दड और प्रकोष्ठ की मध्यरेखा से जानेवाला मीडियन) और मस्तिष्क से निकलनेवाले पाचवें और सातवें शीर्षीय (क्रेनियल) मज्जातंतु भी मोटे होनेवालो मे से है। प्रकोष्ठी और मध्यगत मज्जातंतु के विकृत होने से हाथ में शून्यता आती है [illegible] पैदा होती है।

मस्तिष्क से निकलनेवाले ५ वें और ७ वें मज्जातंतु के कुष्ठ-विकृ[illegible] होने से [illegible] के पारदर्शी पटल (कार्निआ) की स्पर्शशून्यता [illegible] है। [illegible] और अक्षिकोष (ऑर्बिट) के स्नायु की संचालन शक्ति [illegible] हो जाती है, नेत्रगोलक बाहर की ओर निकल आते हैं और नेत्रावरण पटल (कन्जंक्टिवा) सूखी और [illegible] रहती है। आंखें बंद [illegible] [illegible]। इससे आंखों मे कोई चीज पडने पर पता नहीं चलता—[illegible] नहीं मालूम होता है। इससे हानि होने का बडा डर रहता है। [illegible]

नही करता । मज्जातात्वीय प्रकार की अपेक्षा इस प्रकार मे व्रण अथवा रुग्णक अस्पष्ट उभरे हुए रूप मे पाये जाते है। वे शरीर मे अधिक प्रमाण मे फैले हुए होते है। त्वचा, मज्जाततु, श्लेष्मलत्वचा, रसग्रंथि और भीतरी अवयवो तक बहुधा रोग-ससर्ग पहुचा हुआ रहता है। प्रकट लक्षण-दृष्टि से मुख्य रुग्णक त्वचा और श्लेष्मलत्वचा मे होते है। इस प्रकार मे कुष्ठग्रथि (नाड्यूल्स) पैदा होती है। साधारणत (हिंदुस्तान में तो) विशेष खराबी की हालत के कुछ उदाहरणो मे वह पाई जाती है। कुछ कार्यकर्ताओ का जो यह खयाल है कि कुष्ठग्रथि का मिलना इस प्रकार का एक लक्षण है, यह सही नही है। कालकुष्ठ-प्रकार की त्वचा के रुग्णक बार-बार होते है। अनुक्रम निम्नलिखित है—

१—चित्ती-सा अस्पष्ट उभरे-रूप मे सूजा हुआ फूला-सा भाग। बहुधा उभार सुर्खी, त्वचा पर एक प्रकार का चमकीलापन, मखमल-सा मुलायम।

२—रग मे बदले हुए चकत्ते अथवा अस्पष्ट ऊचाई से घिरा हुआ त्वचा भाग। सौम्यकुष्ठ और कालकुष्ठ के चकत्तो का भेद भलीभांति पहचानना आना चाहिए। कालकुष्ठ के चकत्तो का ऊपरी हिस्सा अधिक सुर्ख होता है। उभार एक तरह का चमकीलापन और मखमलीपन-सा होता है। ऊचाई अस्पष्ट होती है, सिमटे हुए नही होते। इस दशा मे स्पर्श-सवेदना मे परिवर्तन नही पाया जाता। पृष्ठीय मज्जाततु मोटे नही हुए रहते। और सूक्ष्मदर्शक द्वारा अनेक कुष्ठजतु पाये जाते है।

३—त्वचा अथवा उसके नीचे के पेशीजाल मे कुष्ठग्रथियां पैदा होती है। कभी ये गांठ आकार मे बहुत बडी होती है। कभी बिलकुल नन्ही नुकते-सी दिखाई देती है।

४—स्पष्ट फूटकर व्रण हो जाते है जो नम अथवा बहते रहते है।

कालकुष्ठ-प्रकार में आरभ मे रुग्णक कुछ विशिष्ट भागो मे ही स्थानबद्ध रहते हैं। पर साधारणत यह स्थानबद्धता ऊपरी ही होती है। क्योकि दूसरी ओर के अविकृत भाग की सूक्ष्मदर्शक द्वारा परीक्षा करने पर वहा भी कुष्ठजतु पाये जाते हैं। कालकुष्ठ के प्रगत रोगी मे शरीर पर की कुल त्वचा कुष्ठविकृत हो जाती है। रुग्णक बाहर सिर्फ कुछ विशिष्ट भाग मे खास तौर से पाये जाते है। उदाहरणार्थ मुह, कान, पीठ, छाती, घुटना, केहुनी, पजे का ऊपरी हिस्सा। त्वचा के कालकुष्ठ से विकृत होने का एक लक्षण केशहानि (डीपिलेशन) होता है। सारे ही शरीर पर के बाल उड जाते है। खासकर चेहरे पर भौंहे, डाढी और मोछ के बारे में यह दशा अधिक स्पष्ट दिखाई देती है। अडकोष पर के केश भी उड जाते है।

इस प्रकार मे त्वचा के रुग्णक मे स्पर्श-सवेदन सबधी परिवर्तन नही पाया जाता। तथापि पृष्ठभागीय मज्जातंतु का स्तभ विकृत हो जाने से हाथ-पैरो मे थोडी-सी स्पर्शशून्यता आजाती है। साधारणत' लोग इसे मुर्दारपना कहते है। मज्जातंतु कुष्ठविकृत होते है, पर सौम्यकुष्ठ की अपेक्षा उसमे सख्ती कम मालूम होती है। स्पर्शशून्यता, पोषण-विषयक रुग्णक, लकवे इत्यादि का इस प्रकार के लक्षणो मे गौण स्थान होता है। ऐसे रोगी मे आगे चलकर त्वचा का रोग धीरे-धीरे कम होने से त्वचा के रुग्णक मुरझाने लग जाते है और उस जगह श्वेततंतु-पेशीजाल पैदा हो जाता है। जिससे सिकुडन पड जाती है, विकृत त्वचा खखरी हो जाती है। इस दशा मे फिर वहा स्पर्शशून्यता आने लगती है और पोषण-विषयक रुग्णक दिखाई देने लगते है, यह ध्यान मे रखना चाहिए। क्योकि रोगी के सुधरने मे उसके फिर सौम्यकुष्ठ मे जाने और तब उसके लक्षण दिखाई देने की संभावना रहती है।

कालकुष्ठ प्रकार में श्लेष्मल त्वचा बहुधा विकृत हो जाती है। नाक, कंठ और स्वरयंत्र (लेरिंक्स) की श्लेष्मल त्वचा का पूर्ण कुष्ठविकृत होना संभव है। बहुत बार उसपर गांठ और व्रण भी पाये जाते हैं। नाक के ऐसे कणकों की वजह से नासा पटल नाक में का परदा, (सेप्टम) गायब हो जाता है और नाक बैठ जाती है, कंठ में घर्घराहट की आवाज आती है अथवा कभी-कभी श्वास-रोध भी होने लगता है। रोग की भयंकर अवस्था में आंखों का पारदर्शी पटल कुष्ठविकृत पाया जाता है। गला और पुतली का जीर्ण दाह भी पाया जाता है। अंडकोष का विकृत होना भी मामूली बात है। जिसकी वजह से बहुत बार वहां के बाल झड़ जाते हैं। स्तन फूल जाते हैं। अंडकोष का अन्तःस्राव क्षीण होने की वजह से दूसरा गरासिया भी हो जाती है। शवच्छेदन होने पर दूसरे भीतरी अंग भी कुष्ठविकृत पाये जाते हैं, पर बाहरी लक्षण नजर नहीं आते।

कालकुष्ठ का उपप्रकार नहीं है। उसके एक प्रकार को सर्पिणी अथवा विकीर्ण (डिफ्यूज) कालकुष्ठ कहते हैं। उसमें त्वचा पर सर्वत्र बारीक सूक्ष्म बूंद सरीखे असंख्य कणक होते हैं। ऊपर नजर से न दिखाय अनुसार लाली अस्पष्ट उभार नरम गुलगुल स्पर्श या विशिष्ट चमक उत्पन्न होती है। विशेष अभ्यास के बिना इस किस्म की शोध पहचान नहीं होती। हिन्दुस्तान में कब-कब यह किस्म पाई जाती है। पर उसे आज भी सब जगह स्वतन्त्र उपप्रकार नहीं माना जाता।

होते हैं, इस सम्बन्ध मे पन्द्रहवे प्रकरण मे फिर उल्लेख किया जायगा।

बाह्य लक्षणों से, सूक्ष्मदर्शक से अथवा छीलन (सेक्शन) लेकर सूक्ष्म शरीर शास्त्र दृष्ट्या (हिस्टालाजिकली) भी कभी-कभी परीक्षा करनी पड़ती है। सौम्यकुष्ठ मे वाहिनी के सामने कणसघ (ग्रेन्युलोमा) गाढ़ और सिमटा होता है। साधारणत वह रोममूल और घर्मपिंड के आसपास अथवा नीचे के पेशीजाल मे पाया जाता है। खासकर 'उपलेपक पेशी' (एपियेलाइड सेल) होती है। उसमे 'दीर्घकाय' (ज्याट्) पेशी भी साधारणत पाई जाती है। जहा जोरो की प्रतिक्रिया चलती है उन क्षणको मे यह 'दीर्घकाय' पेशी तो बराबर ही पाई जाती है। इसके विपरीत काल्कुष्ठ दशा मे क्षणको मे कणसघ ढीला और बिखरा हुआ होता है। जतु पाये जाते है। उसमे 'कुष्ठपेशी' अथवा 'फेनपेशी' होती है। दीर्घकायी प्राय नही होती।

सर्वंगत अन्तःसेक

ऊपर कहा जा चुका है कि काल्कुष्ठ के क्षीण प्रतिकार के उदाहरण मे यह सर्वंगत अन्तःसेक होता है, वास्तव मे समझने योग्य दृश्य कम होते है, जिसकी वजह से जानकारो से भी भूले हो जाती है। सूक्ष्मदर्शक के द्वारा सिर्फ अनेक जन्तु पाये जाते है। व्यवहार मे ऐसे रोग-निर्णय करने मे बड़ा धोखा रहता है। वे पहचान मे न आकर, सर्वत्र मिले-जुले रहते है और बराबर छूत फैलाते रहते है।

कई बार इस प्रकार मे त्वचा खूब मोटी होजाती है। अगर [illegible] पर छू जाय तो [illegible] फूली हुई सूक्ष्म सिकुड़न-सी पड़ी दिखाई देती है। [illegible] [illegible] [illegible] मे [illegible] सिकुड़नी (रिओन्टियासिस) दिखाई देता है। [illegible] पर भी [illegible] होता है।

यह कहते सुना जाता है कि हथेली, पगथली और खोपडी पर रुग्णक नही पाये जाते, पर यह सही नही है। सर्वगत अन्तः सेक वहा भी फैलता है। पर हथेली और पगथली की मोटी त्वचा के कारण अथवा सिर पर बालो के आवरण के कारण सहज मे वे लक्ष मे नही आते।

कुष्ठ-ग्रथि

साधारणत जिस त्वचा मे कुष्ठ-संसर्ग अच्छी तरह भिना हुआ होता है उस त्वचा मे यह गाठ होती है। उसका रूप स्थायी होता है। कुष्ठ-प्रतिक्रिया मे उठनेवाली गाठ का फिर दवना सम्भव रहता है। यह गाठ कुष्ठज पेशीजाल से बनी हुई रहती है। उसमे फूली हुई फेनपेशी होती है और उसमे कसकर कुष्ठजतु भरे रहते है। ये सब श्वेत ततु पेशीजाल द्वारा बधे हुए से होने से गाठ की शक्ल बन जाती है जो जबतक नवीन होती है नरम रहती है। उसमे रसवाहिनिया भी होती है। पुरानी होने लगने पर श्वेततंतु पेशीजाल सिकुडने लगता है और वह कडी बन जाती है। त्वचा मे अथवा उसके नीचे के पेशीजाल मे भी वह होती है। उसके हमेशा के अड्डे तो है खास तौर से आगे निकले हुए अवयव जैसे चेहरा, कान, हाथ, ठेहुने, पैर या केहुनी। पर वह कही भी हो सकती है। नाक, मुह, कठ मे भी होती है। हथेली, पगथली और खोपडी पर कभी-कभी ही होती है।

कभी-कभी यह गाठ फूट कर व्रण हो जाते है। साथ ही भीतरी मवाद बह जाता है। तब सूख जाता है अथवा बहुत दिनो तक बहाव जारी रहता है। इस स्राव मे कुष्ठजतु होते है। ऐसी दशा मे संसर्ग फैलना आसान रहता है। पीछे मज्जाततु मे के अनुसव्रण का जिक्र आचुका है। इन दोनो प्रकार के व्रणो मे जो भेद है उसे समझ रखना चाहिए। इन गाठो के होने का कोई निश्चित कारण नही बतलाया जा

सकता। जरासी जख्म की जगह में कुष्ठजंतु ज्यादा तादाद में जमा हो जाते और बढ़ते हैं। सामने का पेशीजाल उसका विशेष प्रतिकार करता है। सम्भव है इस प्रतिक्रिया के कारण वह गांठ बन जाती हो।

बारहवां प्रकरण

विशिष्ट अवयवों के रुग्णक

त्वचा में और मज्जातंतु के कोढ के रुग्णकों के विस्तार-पूर्वक विवेचन करने के बाद अब विशेष अवयवों में जो विशेष प्रकार के रुग्णक पैदा होते हैं सुगमता के लिहाज से उनका स्वतन्त्र रूप से विचार करना और ज्यादा अच्छा होगा। ये रुग्णक साधारणतः कम पाये जाते हैं। रोग-निदान और उपचार की दृष्टि से उनका महत्त्व है। ये रुग्णक (१) आंख, (२) नाक, (३) मुंह और कंठ (४) श्वसनेंद्रिय और (५) जननेन्द्रिय पर पाये जाते हैं। कोढ में व्रणों का भी अलग से विचार करना पड़ता है।

आंखों के रुग्णक

कोढ के कारण होने वाले रुग्णकों में आंखों के रुग्णक सबसे ज्यादा दुःखद और अपंग बनानेवाले होते हैं। इनका पहले प्रसंगवश जिक्र आ चुका है। पर उनका स्वतन्त्र रूप से विचार करने की जरूरत है। इन रुग्णकों के [illegible] भिन्न दो वर्ग होते हैं। पहला प्रकार [illegible] के [illegible] मज्जातन्तु के विकृत होने से होता है। इसमें [illegible] पटल ([illegible]) में [illegible] पैदा हो जाता है। [illegible] की क्रिया में [illegible] आती है। दूसरे प्रकार में [illegible]

साथ नाक अथवा कंठ में से आता होगा। क्षय और कोढ दोनों बहुत बार एक साथ होते हैं। उनकी भेदकारी (डिफरेन्शियल) जांच करनी चाहिए। संशय होने पर सफेद चूहों के बदन में उस थूक का इंजेक्शन देकर निर्णय किया जा सकता है। अगर कोढ होगा तो कोई नतीजा नहीं होगा। क्षय होने पर चूहे पर रोग का असर होगा।

जननेन्द्रिय के रुग्णक

कोढ के समस्त प्रगत उदाहरणों में वीर्यपिंड और अंडकोष कुछ विकृत होते हैं। गोलियों के भीतर और दोनों गोलियों के बीच के भाग में, दोनों जगह सगर्भ फैलता है। वीर्यनलिका में भी सगर्भ फैलना होगा। गोलियों का पेशीजाल जाता रहता है और श्वेततंतुओं का एक गोला-सा बन जाता है। वहां के बाल झड़ जाते हैं। अंडकोष की अंतःस्राव क्रिया बन्द हो जाने से स्तन बेतरह फूल जाते हैं। नारंगी के आकार के या उससे भी बड़े हो जाते हैं। जबतक उनमें वेदना होती है। वह कुछ काल तक जैसे-के-तैसे रहते हैं। उनमें भी कुछ पानी होता है।

इसके सिवाय, कोढ में नपुंसकत्व आ जाता है। अंतःस्राव प्रणाली (इंडोक्राइन सिस्टम) में परस्पर सम्बन्ध बिगड़ जाता है। उसे यदि जल्दी न सुधारा गया तो रोगी की मानसिक और शारीरिक स्थिति गिर जाती है और वह उदास रहता है।

शवच्छेद करने पर रजपिंड (ओवरी) और मूत्रपिंड (किडनी) दुर्बल हुआ पाया जाता है। पर जीवितावस्था में उनके काम में कोई खराबी नहीं दिखाई देती।

कोढ में व्रण

[illegible] में व्रण दो प्रकार के होते हैं। उनका [illegible] [illegible] है। एक प्रकार के व्रण मज्जातंतु के द्वारा [illegible]

वाले पोषण के नष्ट होने से पैदा होते हैं। वे पैरो को नीचे से ऊपर की ओर की वेधन क्रिया की तरह काटते जाते हैं। इसलिए उन्हें 'वेधक व्रण' (परफोरेटिंग अल्सर) कहते हैं। ऐसे व्रणों मे से कुष्ठजतु साधारणत. प्राय. बाहर नही निकलते। उनसे जितना डरा जाता है उस हिसाब से वे रोग कम फैलाते है।

दूसरे प्रकार के व्रण 'कालकुष्ठीय व्रण' है। वे त्वचा अथवा श्लेष्मल-त्वचा में के रुणको के फूटने से होते है। ऐसे व्रणो के पाये जाने की नियमित जगह नथुने है। ऐसे व्रणो मे से असख्य जतु निकलते रहते है। कुष्ठग्रथि फूटने से होनेवाले व्रण भी इसी दायरे मे आते है। रोग को फैलाने मे इन व्रणो का प्रमुख स्थान है।

मज्जातंतु में के अमुखव्रणो की एक अलग ही किस्म है। वे फूटकर बहने लगे तो उन्हे दूसरे व्रणो की भांति समझने मे हर्ज नही है। उनका वर्णन पीछे किया जा चुका है।

तेरहवां प्रकरण

कुष्ठ-प्रतिक्रिया

कोढ बडा जीर्ण रोग है। इसमे चढाव उतार बहुत धीरे-धीरे होता है। रोगी मे हफ्तो या महीनो तक भी कोई प्रत्यक्ष परिवर्तन नही होता। तथापि कुछ रोगियो में कुष्ठ-प्रतिक्रिया अथवा ज्वर की दशा आती है, उस समय रोग के लक्षणो मे एकबारगी अचानक कुछ वृद्धि हो जाती है।

इस कुष्ठ-प्रतिक्रिया के कारण बहुधा दुर्बोध अथवा संशयित रहते

है। स्थूल दृष्टि से तो शरीर की पेशी की कार्यशक्ति अथवा चयापचय[1] (घटने-बढ़ने की) क्रिया में परिवर्तन पैदा करनेवाले अनेक कारणों से वह होती है। शीतज्वर अथवा मलेरिया सरीखे सहचारी रोगों से अथवा चेचक निकलने या शरीर को दुर्बल करनेवाले किसी भी कारण से वह हो सकती है। कोढ़ियों को पोटेशियम आयोडाइड पूर्ण मात्रा में देने पर वह प्रतिक्रिया हठात् पैदा की जा सकती है। हिड्नोकार्पस अथवा चालमुग्रा तेल, आर्सेनिक (संखिया), पारा इत्यादि औषधियाँ अति मात्रा में देकर भी वह पैदा की जा सकती है। अनेक बार कुष्ठग्रस्त स्त्रियों की गर्भावस्था में वह हो जाती है। तथापि बहुत बार सारा कारण समझ में नहीं आता।

कुष्ठ-प्रतिक्रिया के लक्षणों के संक्षेप में तीन भाग किये जाते हैं —

१—त्वचा, मज्जातन्तु, श्लेष्मल त्वचा, नेत्र के पुराने व्रणकों में गर्मी, शोथ अथवा दाह और बाढ़।

२—शरीर के भिन्न-भिन्न अवयवों पर नये व्रणक उत्पन्न होना।

३—अस्वस्थता, ज्वर इत्यादि।

प्रतिक्रिया के लक्षणों का स्वरूप रोग के प्रकार के हिसाब से बदलता है। ग्रन्थिकुष्ठ में साधारणतः पुराने व्रणक गरम और लाल हो जाते हैं। उनमें अर्बुदाकार वृद्धि होती है। भिन्न-भिन्न अवयवों पर [illegible] नये व्रणक होते हैं। कुष्ठविकृत मज्जातन्तु की सूजन और दर्द बढ़ता है। इसके कारण वेदना होती है, स्पर्शशून्यता में वृद्धि होती है। पर, सार्वदैहिक अस्वस्थता, ज्वर वगैरा आम तौर से नहीं हुआ करते; [illegible] बहुत [illegible] प्रमाण में ही पाये जाते हैं।

---

१. इष्ट को लेना अनिष्ट को छोड़ना, पेशी की इस क्रिया को मेटाबोलिज्म कहते हैं। इसीका अनुवाद 'चयापचय' किया गया है।

धीरे-धीरे क्षीण होता रहता है, उसकी हालत उत्तरोत्तर बिगडती जाती है। खयाल है कि कालकुष्ठ मे ससर्ग-केंद्र (लेप्राटिक् फोकस्) के पूरे शरीर मे फैलने से यह प्रतिक्रिया होती होगी।

आरोग्य सुधर कर प्रतिकार-शक्ति के पूर्ववत् होने या बढ़ने पर कोढ़ी मे एक प्रकार की प्रतिक्रिया होती है, इसका उल्लेख पहले हो चुका है। यह आरोग्यस्थापनारूपी (रिकवरी) प्रतिक्रिया उपर्युक्त प्रतिक्रिया से भिन्न होती है। इसका भेद समझ रखना चाहिए। एक प्रतिकार-शक्ति के घटने की वजह से होती है, दूसरी प्रतिकार-शक्ति के बढ़ने लगने के कारण होती है।

कुष्ठ-प्रतिक्रिया के संबंध में ध्यान में रखनेवाली एक और जरूरी बात है। प्रतिक्रिया कोई टिकाऊ अवस्था नहीं होती है। बिना किसी खास उपचार के भी थोड़े समय के बाद वह साधारणतः अपने आप दब जाती है। रोगी प्रतिक्रिया के पूर्व जिस दशा में था, फिर बहुधा उसी दशा में हो जाता है। इस बात पर गौर न करने के कारण बहुत बार गड़बड़ हो गई है। प्रतिक्रिया शीघ्रपरिणामी (अक्यूट) अथवा दीर्घ-स्थायी (क्रानिक) स्वरूप की भी हो सकती है।

चौदहवां प्रकरण

कोढ़ की वृद्धि और उतार का क्रम

[illegible] नहीं [illegible] प्राय [illegible] है और [illegible] नहीं [illegible] है। [illegible] उदाहरणों में [illegible] है। [illegible] धीरे-धीरे बढ़ता रहता

क्रमश नष्टप्राय हो जाते हैं। श्लेष्मलत्वचा और दूसरे कुष्ठविकृत पेशी भागों में भी ऐसा ही परिवर्तन हो जाता है।

पन्द्रहवां प्रकरण

कोढ़ का निदान (रोग-निर्णय)

हैं कब नही, यह सबको जानना चाहिए। ऐसे ही किस प्रकार मे वह साधारणत अस्तिपक्ष मे होती है अथवा नही होती इसकी जानकारी रहना भी उपयोगी है। यह परीक्षा कोढ का निदान करने की अपेक्षा रोगी सासर्गिक है या नही इस निश्चय मे अधिक उपयोगी है। निदान करने मे हमेशा उसका उपयोग नही होता, और न जरूरत ही है। किसी रुग्णक में किस प्रमाण मे साधारणत जतु पाये जाते है इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

अपवादात्मक उदाहरण

कोढ के कुछ अपवादात्मक उदाहरण ऐसे पाये जाते है कि जिनमे ये मुख्य निर्णायक तीनो लक्षण नही होते या सशयग्रस्त होते है। छोटे बच्चो के बारे मे ऐसा अनेक बार होता है। यह पहले बतलाया जा चुका है। ऐसे प्रसगो पर विशेषज्ञ ही निर्णय कर सकते है। कुष्ठ-रोगी की सोहबत से उत्पन्न कुष्ठ मे (ससृष्ट मे) कुछ अधूरे लक्षण पाये जाय तो साधारण पाठको को चाहिए कि फौरन उसे उचित परीक्षा करा लेने को कहे, उसमे आलस्य न करे। समाज मे से कोढ को नेस्तनाबूद करना हो तो जहातक सभव हो शीघ्र निदान होना चाहिए, तभी सफलता की आशा है। इसपर जितना जोर दिया जाय कम है।

भेदकारी चिकित्सा (डिफरेन्शियल डायग्नोसिस)

निर्णायक लक्षण तय करने के बाद कोढ सरीखे दिखाई देनेवाले दूसरे रोग कौन से है और उनमे क्या भेद है इसका विचार करना आवश्यक है। क्योकि दूसरे रोगो मे भी ऐसे ही बाह्य लक्षण मिलने सभव है। उनका भेद समझ मे आये बिना रोग-निर्णय नही हो सकता। उदाहरणार्थ, शेरणी रोग मे त्वचा पर फीके सूक्ष्म दाग हो जाते है। पर उनमें स्पर्शज्ञान रहता है, पसीना आता है, बाल भी पाये जाते है। 'पीले कोढ' रोग

वर्गीकरण के संबंध में एक बात विशेष साफ करने की है। जिस रोगी में मज्जातात्वीय और कालकुष्ठीय दोनो रुग्णक मिलें उसे कालकुष्ठीय वर्ग में ही डाला जायगा, चाहे कालकुष्ठीय रुग्णक एकाध ही हो और मज्जातात्वीय अनेक। साध्यासाध्य-विचार, उपचार और रोगप्रतिबंधक इलाज की दृष्टि से कालकुष्ठीय रुग्णक का पाया जाना अधिक ध्यान खींचनेवाली बात है। वर्गीकरण करते हुए उसे प्रमुखता मिलनी चाहिए। उदाहरण के लिए क$_2$ म$_1$ लिखना चाहिए, म$_1$ क$_2$ लिखना ठीक नहीं है। संक्षेप में कोढ का नीचे लिखे अनुसार वर्गीकरण होगा —
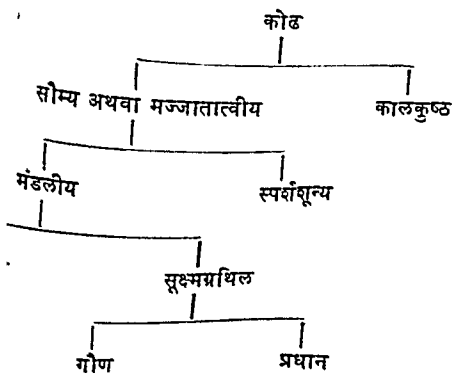
कोढ के हमेशा मिलनेवाले उदाहरणो के वर्गीकरण मे कोई कठि-
नहीं होती। बहुत बार भिन्न तरह के उदाहरण मिलते है, तब उनका
रण आसान नहीं रहता। कुछ सौम्यकुष्ठ के और कुछ कालकुष्ठ
रे लक्षण किसी किसी रोगी में एकत्र मिलते है। उसमे संवेदना के
ए स्थानबद्ध दाग और सख्त मज्जातंतु मिलेंगे, पर उसीके साथ

अशक्तता बढने लगने और प्रतिकारशक्ति कम होने लगने पर सेडिमेटेशन दर्शक (इन्डेक्स) चढने लगता है।

अनुभव, आग्रह और समय हुए बिना प्रतीकारशक्ति का अन्दाज एकदम नही लगाया जा सकता। उपचार शुरू करने के पहले या उपचार चालू रहते बीच-बीच मे इसका विचार करना चाहिए। उपचार कितनी मात्रा में (डोज मे) देना, कहातक बढाना अथवा कब बन्द रखना यह तै करने में भी इसका उपयोग होता है।

से नीचे तक १०० भाग किये हुए होते हैं। ऊपर के भाग में ० निशान बना रहता है। नीचे से ० इस निशान तक रक्त मिश्रित द्रव्य लेने से वह १ घ सें भरता है। इस पिपेट को एक रबर के स्टॅड में खड़ा कर देते हैं। १॥ घण्टे में उसे देखने पर रक्त के गोलक अलग होकर नीचे तह में कचड़ा जमा हुआ दिखाई देता है। ऊपर का हिस्सा पानी के समान रंग रहित रहता है। फिर एक घटे भर उस पिपेट को वैसे ही रखकर देखने से लाल कचडे का भाग नीचे खिसका हुआ दिखाई देता है। दोनों बार के नली पर के अक मिलाकर उसका अनुपात निकालते हैं, इसे सेडिमॅटॅशन दर्शक (इन्डेक्स) कहते है। इस परीक्षा से प्रतिकार शक्ति घटी है कि सुधरी है, इसका पता चलता है। निरोगी मनुष्य में सेडिमॅटेशन दर्शक (से. द) १० के नीचे रहता है। रोगियो में वह ८० तक बढ़ा हुआ पाया गया है। रोगी का यह से द. बीच-बीच में देखते रहने से उसकी प्रतिकारशक्ति के उतार-चढ़ाव का अन्दाज होता रहता है। उसके हिसाब से औषधोपचार में अदल-बदल किया जा सकता है। डाक्टर के लिए यह परीक्षा मार्ग-दर्शक होती है। पर इसी पर सारा दार-मदार नहीं रखना चाहिए।

अन्न घर से मगाता था। दो वरस वाद उसका रोग बिना किसी दवा के अच्छा हो चला। वह थोडी नीम की पत्तिया खाता था। इसके सिवा उसने कोई दवा नही ली थी। इस उदाहरण मे कोई अतिशयोक्ति नही है। उत्तम प्रतिकार हो और रोग आरभिक दशा में हो तो सिर्फ साधारण उपचार से भी रोग की रोक-थाम संभव है। दूसरो के लिए भी ऐसा सुधार संभव है। साधारण उपचार को खेत की जुताई कह सकते हैं। खास उपचार ऊपर से वरसनेवाली वर्षा है। जुताई न की गई तो वरसात वेकार है, यह सव किसान जानते है। इस वात से साधारण उपचार का महत्त्व ध्यान में आजाना चाहिए। नार्वे से १७० आदमियो के अमेरिका की वस्ती मे भेजने का जिक्र पहले आचुका है। उस उदाहरण से भी साधारण उपचार का महत्त्व समझ मे आ जायगा।

पर साधारण उपचार और खास उपचार मे व्यर्थ भेद करने की जरूरत नही है। दोनो एक साथ चल सकते है। दोनो की उचित मात्रा और सामजस्य रखने में सफलता की कुजी है। यह जान रखना चाहिए कि दोनो एक दूसरे के पूरक है किसी भी खास उपचार का परिणाम प्रतिकारशक्ति को पहले तात्कालिक कुछ कम करना होता है।

सामान्य उपचार

कोढ का उपचार शुरू करने में एक नियम पर अधिक ध्यान देना चाहिए। दूसरा कोई भी रोग साथ हो तो पहले उसे संभालना चाहिए। इसके बिना कोढ का इलाज शुरू न करे। उपचार शुरू करने पर बीच में दूसरा रोग पैदा हो जाय तो पहले उसकी ओर ध्यान देना चाहिए। यथासभव इस नियम का पालन होना चाहिए। इस बात की बहुत बार परवा नही की जाती। इसके कारण खास उपचार का वास्तविक परिणाम सामने नहीं आता। जड़ैया, अतिसार, हृद्रक्त, मवाद

तो 'क्रोमिक अम्ल' का फाहा अच्छा है। घाव हो तो धोकर बोरिक मरहम लगानी चाहिए।

कोढ़ियो के सहवास में रहनेवालो को हाथ वगैरा धोने के लिए 'लायसोल' का घोल उपयोग करना चाहिए। फर्श और लकडी का सामान वगैरा अधिक तीक्ष्ण घोल से धोना चाहिए। लायसोल विषैला पदार्थ है, मुह में जाने से बचाना चाहिए।

उपचार संबंधी उपर्युक्त जानकारी साधारण पाठको को अथवा रोगियो को होनी जरूरी है। उपचार की पद्धति, द्रव्य, समय, मात्रा का प्रमाण इत्यादि तज्ज्ञ डाक्टरो को मालूम रहता है। यहा उसके ब्यौरे मे उतरने की जरूरत नही जान पडती। मज्जातंतु की खराबी, विशिष्ट अवयवो के व्रणक और कुष्ठ-प्रतिक्रिया के उपचार का ब्यौरा साधारण पाठकों की मर्यादा के बाहर की चीज है। पीछे वर्णन की हुई प्रत्येक विकृति का उपचार की दृष्टि से विचार होता है, पर यहा उसकी जरूरत नही है।

कुष्ठ-प्रतिक्रिया के बारे मे सिर्फ एक सूचना दे देना आवश्यक है। इस समय नित्य का खास उपचार, सूइयां बन्द रखनी पड़ती हैं, पूरा आराम लेना पड़ता है। बहुत बार बिना किसी उपचार के केवल आराम करने से ही वह अपने आप दब जाती है। लक्षणो के बढने से डरकर रोगी अधिकाधिक उपचार लेने का विशेष आग्रह करता है। उसका नतीजा खराब होता है। जानकारो की सलाह मिलनी सभव हो तो लेनी चाहिए। आवश्यकता जान पड़ने पर वह उपचार करेगा। यो, रोगी का पेट साफ रखना चाहिए, खान-पान हलका लेना चाहिए पूरा आराम लेना चाहिए। उस वक्त उपचार करने की परेशानी में बिलकुल नही पड़ना चाहिए।

कोढ रोग में खानेवाली कोई दवा नही है। कुछ रोगियों को

न होनेवाली व्यग्यता, कुरूपता और समाज म होनेवाले तिरस्कार
के कारण है। यद्यपि यह रोग स्पर्शजन्य है तथापि इसकी स्पर्श-
जन्यता भी ऐसे ही सौम्यरूप की है। इस वजह से इसका साध्यासाध्य-
विचार (प्राग्नासिस) शायद दूसरे रोगो की अपेक्षा अधिक महत्त्व की
चीज होगी।

इस साध्यासाध्य-विचार के दो अग है। (१) उनके सम्वन्ध मे
विचार। जो ससर्ग मे आये हुए है (ससृष्ट), पर अभी सिर्फ रोग-लक्षण
जाहिर नही हुए है, ऐसे उदाहरणो मे रोग प्रकट होने की कितनी
सभावना है, इसका मुख्य रूप से विचार करना पडता है। (२) उन
रोगियो के सवध मे विचार कि जिनमे रोग-लक्षण प्रकट हो गये है। रोग
दुरुस्त होने की कितनी सभावना है। दुरुस्त होने मे कितना समय
लगेगा? रोग फिर से शुरू होने की सभावना रहेगी क्या? दुरुस्ती
हो गई तो भी व्यग्यता रहेगी या नही? इन प्रश्नो का विचार नम्बर
दो में आता है।

इन दोनो अगो का विचार करने की दिशा एक ही है। उपर्युक्त
प्रश्नो का उत्तर देते समय छ बातो को लक्ष्य मे रखने की जरूरत है—(१)
उम्र, (२) रोग का प्रकार, (३) वश, (४) रोग का समय और उसके
चढाव-उतार की गति, (५) रोग-प्रतिकार-शक्ति, (६) साधारण
शरीर प्रकृति अथवा आरोग्य।

(१) छोटी उम्र मे सुधार होने की सभावना प्रौढो की अपेक्षा कम
होती है। छोटे बच्चो को सौम्यकुष्ठ के चकत्ते होने पर उसमे सुधार
होना सुलभ नही है। उलटे अधिक विकृत स्वरूप धारण करने की
सभावना रहती है।

(२) कालकुष्ठ की अपेक्षा सौम्यकुष्ठ मे सुधार होने की

। में परिश्रम के कारण निकृष्ट आहार होने पर भी उनकी प्रतिकार-
क्ति अच्छी रहती है। मजबूत स्नायुवाला रोगी औषधि की अधिक
ात्रा आसानी से पचा सकता है।

रोगी की दृष्टि से यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है कि हाथ पैरो पर या चेहरे पर
व्यग्यता आवेगी या नही। बिलकुल आरंभिक अवस्था मे उपचार शुरू हो
जाने और फिर व्यवस्थित रूप से जारी रहने से व्यग्यता आने की सभावना
कम रहती है। इस सबध मे विशिष्ट प्रकार के व्यायाम का विशेष महत्त्व
है। जिनके स्नायु अच्छे बने हुए है और जो नित्य व्यायाम करते रहते
है ऐसो को हाथ-पैरो की पगुता की विकृति शायद ही होती है। बहुत
बढी हुई हालत के उदाहरणो मे कुछ स्पर्शशून्यता और सूक्ष्म स्नायु
में होनेवाली पोषण सबधी विकृति सहसा दूर नही होती, वह स्थायी
होती है। पर उसे रोग के जागृत लक्षणो मे गिनने की जरूरत नही
है। उसे पूर्वरोग का अवशेष समझना चाहिए।

बीसवां प्रकरण

कोढ़ी की मनःस्थिति

'कोढी' शब्द एक तरह की गाली ही है। बहुतेरे देशो मे दुर्भाग्य से
। इस रोग के पजे मे फस जाते है उन्हे लोग गालिया देते है और उनसे
.रत करते है। लोगो का खयाल है कि कोढी मनुष्य दुष्ट और पापी
न होता तो भगवान ने उसे इतनी बडी सजा क्यो दी होती। समाज
कोढियो को धिक्कार-दृष्टि से निहारता है। कोढी के मन पर इसकी
(असर) हुए बिना नही रहती। यह प्रतिक्रिया ही कोढी के
कमजोर मनःस्थिति का कारण होती है।

साधारण समाज मे प्रमाण या प्रकार का तारतम्य नही है। उसे कोढी-मात्र से नफरत होती है। यह एक वार की घर की हुई भावना ज्यो-की-त्यो जारी रहती है।

समाज की ऐसी वृत्ति का रोगी की मन स्थिति पर स्थायी परिणाम होता है। पहले तो वह रोग को छिपाता है। जरा भी निशान किसी को दिखाई न पड जाये, इस डर से वेचारे का मन सशकित रहता है। इसके कारण निरतर का मानसिक आरोग्य और प्रसन्नता जाती रहती है। आगे चलकर जैसे-जैसे रोग जाहिर होने लगता है और समाज मे उसे तिरस्कार और वहिष्कार सहना पडता है, वैसे-वैसे उसके मन में हीनता की भावना वढने लगती है। इसी समय कही अगर उसका काम-धधा छूट गया और उसे दूसरे की दया या भीख पर निर्वाह करना पडा तो उसके स्वाभिमान की भावना को भारी चोट पहुचती है। पूरा स्वाभिमानशून्य न होने पर भी हताश तो हो ही जाता है। रोगी जितना सुशिक्षित और कुलीन होता है उसे उतनी ही अधिक मानसिक व्यथा होती है।

यह सिद्धात है कि मानसिक स्थिति कमजोर होते जाने देने से शारीरिक स्थिति भी कमजोर होती जाती है। उसकी वजह से रोगी की रोग-प्रतिकार-शक्ति क्षीण हो जाती है। वह जैसे-जैसे कम होती जाती है वैसे-वैसे उसका रोग वढता है, और रोग छिपाने का उपाय नही रह जाता। वह अगर जल्दी ही जाहिर होगया तो वहिष्कार अधिक प्रमाण मे प्रकट होने लगता है। इस प्रकार अनर्थ परपरा का चक्र चालू होजाता है। मनुष्य जहा हताश हुआ, भविष्य की आशा न रही, जग से और व्यवहार से प्रत्यक्ष वचित हुआ वा होने का ... कि मन और साथ ही शरीर भी छीजना शुरू हो जाता

बजाय उनसे सहानुभूति और सहृदयता का व्यवहार होना चाहिए। मनुष्यता और भूतदया के नाते ही नही बल्कि रोगी की प्रतिकार-क्षमता को प्रोत्साहन देने के विचार से भी ऐसा व्यवहार करना दूसरो के लिए फर्ज हो जाता है। ऐसे रोगियो की स्थिति सुधारने के लिए क्या समाज उनसे विवेकयुक्त प्रेमपूर्ण बर्ताव नही कर सकता ?

इक्कीसवां प्रकरण

कोढ़ का प्रतिबंध

प्रतिबंध के मूलतत्त्व

कोढ सासर्गिक (छूत का) रोग है। सासर्गिक रोगी के स्पर्श से वह निरोगी व्यक्ति को लग जाता है। बच्चो को इस प्रकार से रोग-ससर्ग होने का बडा डर रहता है।

दूसरे सासर्गिक रोगो मे जिन तत्त्वो के आधार पर प्रतिबंधात्मक उपाय किये जाते है उन्हीका अवलबन कोढ मे भी किया जाता है। नीचे लिखे उपाय अमल मे लाये जाते है—

१—सासर्गिक रोगियो से दूसरो का सहवास बचाने के लिए उन्हे अलग रखना।

२—रोगियो को असासर्गिक बनाने के लिए उनका इलाज करना।

३—समाज के सब व्यक्तियो को अथवा सहवास मे जानेवाले (ससृष्ट) व्यक्तियो को कृत्रिम उपायो से रोग-निर्भय (इम्युनाइज) करना

४—ससर्ग लगने न देने के लिए सामाजिक और आरोग्य-विषय परिस्थिति मे सुधार करना।

लोकशिक्षक और आरोग्य-दूतो (हेल्थविजिटर) की स्वेच्छा सहायता मिले तो प्रचार का प्रश्न कठिन नही है।

दूसरे देशों मे कोढ़ का प्रतिबध

जहा रोगियो की सख्या एक हद के अन्दर है और आवश्यक आर्थिक सहायता मिलने में अडचन नही है उन देशो मे आमतौर से अनिवार्य रूप से उन्हे अलग करने पर जोर दिया जाता है। यह अलगाव साधारणत कुष्ठनिवास सरीखी सस्थाओ के मार्फत होता है। कुछ देशो मे अनुकूल परिस्थिति मिलने पर घर के घर मे ही अलगाव किया गया है। एशिया और अफ्रीका के कुछ देशो मे कुष्ठग्राम बसाने की पूर्वापर प्रथा दिखाई देती है।

इस अलगाव का नतीजा अलग-अलग हुआ है। जहा लोकमत अच्छा अनुकूल मिला जैसे नार्वे में, वहा अलगाव मे अच्छी कामयाबी हुई है। जहा लोकमत का जोर नही रहा वहा यथासभव कायदे को टालने की प्रवृत्ति रही है। सासर्गिक रोगियो को अलग करना मानवदया का कार्य है यह न समझकर रोगियो के रोग छिपाने मे दूसरे लोग उलटे मदद करने लगे। ऐसे देशो मे यह प्रयोग निष्फल सिद्ध हुआ। जापान, फिलिपाइन्स सरीखे कुछ देशो मे बीच के दर्जे की कामयाबी रही।

इधर अलगाव पहले से अधिक लोकप्रिय होने लगा है। एक बार अलग किये गये कि फिर समाज मे वापस लौटने की उम्मीद गई, यह धारणा बदल रही है। आधुनिक उपचार से बहुतेरे रोगियो को समाज में वापस लौटने की आशा होने लगी है। इन दिनो के कुष्टनिवास पहले जैसे कैदखाने नही रह गये है। वे यथासभव रमणीय, हवादार स्थानो मे बसाई बस्ती जैसे है। दूसरी वजह है, उन देशो में पति-पत्नी

लोकशिक्षक और आरोग्य-दूतो (हेल्थविजिटर) की स्वेच्छा से सहायता मिले तो प्रचार का प्रश्न कठिन नही है।

दूसरे देशों मे कोढ़ का प्रतिबंध

जहा रोगियो की सख्या एक हद के अन्दर है और आवश्यक आर्थिक सहायता मिलने में अडचन नही है उन देशो मे आमतौर से अनिवार्य रूप से उन्हे अलग करने पर जोर दिया जाता है। यह अलगाव साधारणत. कुष्ठनिवास सरीखी सस्थाओ के मार्फत होता है। कुछ देशो मे अनुकूल परिस्थिति मिलने पर घर-के घर मे ही अलगाव किया गया है। एशिया और अफ्रीका के कुछ देशो मे कुष्ठग्राम बसाने की पूर्वापर प्रथा दिखाई देती है।

इस अलगाव का नतीजा अलग-अलग हुआ है। जहा लोकमत अच्छा अनुकूल मिला जैसे नार्वे मे, वहा अलगाव मे अच्छी कामयाबी हुई है। जहा लोकमत का जोर नही रहा वहा यथासभव कायदे को टालने की प्रवृत्ति रही है। सासर्गिक रोगियो को अलग करना मानवदया का कार्य है यह न समझकर रोगियो के रोग छिपाने मे दूसरे लोग उलटे मदद करने लगे। ऐसे देशो मे यह प्रयोग निष्फल सिद्ध हुआ। जापान, फिलिपाइन्स सरीखे कुछ देशो में बीच के दर्जे की कामयाबी रही।

इधर अलगाव पहले से अधिक लोकप्रिय होने लगा है। एक बार अलग किये गये कि फिर समाज मे वापस लौटने की उम्मीद गई, यह धारणा बदल रही है। आधुनिक उपचार से बहुतेरे रोगियो को समाज मे वापस लौटने की आशा होने लगी है। इन दिनो के कुष्टनिवास पहले जैसे कैदखाने नही रह गये हैं। वे यथासभव रमणीय, हवादार स्थानो मे बसाई बस्ती जैसे है। दूसरी वजह है, उन देशो में पति-पत्नी

ोग्य दिशा मे कार्य करते रहने से उसमे समाज का स्थायी कल्याण है,
ौर रोग को वश में लाने मे कदम आगे पडेगे । इसके लिए
दुस्तान में जगह-जगह निम्नलिखित उपायो पर अमल करना
हिए

) प्रचार

साधारण जनता मे इस विषय का सही-सही ज्ञान फैलाना चाहिए ।
के बिना इस काम मे विवेकपूर्ण लोकमत का वल पाने की
ा नही है । आज तो इस सबध मे लोकमत उदासीन है । किसी
थ वर्ग को ही नही सारे समाज को मिलकर इस प्रश्न के सबध मे
ा होना चाहिए । इसके बिना रोग की रोक मे कामयावी नही
कती ।

कार्यकर्ताओ की शिक्षा

इस विषय के जानकार डाक्टर, परिचारक और आरोग्यदूतो की
तादाद वढानी चाहिए । इसके लिए उनकी तालीम का प्रबध करना
चाहिए ।

(३) अलगाव की कोशिश

कुष्ठनिवास सरीखी सस्थाओ के द्वारा अलगाव आदर्शरूप से हो-
कता है । आज हिंदुस्तान में जो ऐसी ५०–५५ सस्थाए है उनमे
०,०००रोगी अलग करने का सुभीता है । हिंदुस्तान मे१५ से २०लाख
ोढी होने की कल्पना है । अगर उनमें सैकडे २० सासर्गिक माने जाय
ा उनकी सख्या ३ लाख से ऊपर जायगी । इतनो के लिए ऐसी सस्था
ापित होना असभव-सा दिखाई देता है । तथापि प्रत्येक रोगग्रस्त भाग
ऐसी एक सस्था तो जरूर होनी चाहिए । उसमें रोगियो की परीक्षा,
अलगाव और कार्यकर्ताओ के शिक्षण इत्यादि की सुविधा होनी

(४) उपचार-केंद्र (क्लिनिक ट्रीटमेंट सेंटर)

कोढ को रोकने में कुष्ठनिवास अथवा अस्पताल के बाद ही उपचार-केंद्रो का नबर है। निस्सदेह उनकी बहुत जरूरत है। वे कुष्ठ-निवास की पूर्वतैयारी के रूप में होते है और पूरकरूप भी। सब असासर्गिक रोगियो और थोडे आरभिक सासर्गिक रोगियो के लिए उनका अच्छा उपयोग होता है। उनके द्वारा रोग-निर्णय, उपचार और प्रतिबध ये तीनो प्रकार के काम हो सकते है। हिंदुस्तान मे रोगियो मे से ७५ प्रतिशत उपचार-केंद्रो में ही जाते है। हिंदुस्तान मे ऐसे उपचार-केंद्रो की सख्या आज लगभग १००० है। हफ्ते मे एक बार सूई लगाना भर ही उनका काम नही होना चाहिए। आदर्श केंद्रो मे प्रत्येक रोगी के घर की और उसके-सब कुटुबवालो की हर छठे महीने जाच होनी चाहिए। कोढ-विषयक ज्ञान समाज मे फैलाने की तो वह शाला ही हो। कुष्ठनिवासो में रोगी भेजने का काम वास्तव मे उन्ही के द्वारा होना चाहिए। समाज मे से ऐसे रोगियो को जल्दी-से-जल्दी खोज निकालना इन केंद्रों के कामो में एक मुख्य काम है। कुष्ठनिवास और उपचार-केंद्र का चोली-दामन का सा साथ है। हिंदुस्तान मे केवल कुष्ठनिवासो द्वारा अथवा केवल उपचार-केंद्रो द्वारा कोढ का प्रश्न हल होना सभव नही है। दोनो का उचित समन्वय और सहकार होना चाहिए। इन दोनो में किसकी जरूरत ज्यादा है, यह विषय कभी विवादास्पद था पर आज तो दोनो की मर्यादा और महत्त्व सामने आगये है। जैसे मनुष्य के दोनो हाथ समान भाव से उपयोगी है वैसे ही ये दोनो भी है। एक के अभाव मे दूसरा पगु रहेगा। हिंदुस्तान में कुष्ठनिवास और उपचार केंद्र भिन्न-भिन्न प्रबधो के आधीन है, इसकी वजह से परस्पर का सबध गाढ होने में अडचन पडती है। होना तो चाहिए दोनो का

वास्तविक परिणाम नही होता । उसका जितने भाग में पालन होता है उससे ज्यादा भाग में वह भग किया जाता है । देखा गया है कि बडी दिक्कतों के बाद लुक-छिप करनेवाले रोगियो को तलाशा भी गया तो उतने ही समय मे वह बहुतो को ससर्ग का शिकार बना चुके होते है। इसकी वजह से कानून की असली मशा जहा-की-तहा ही रह जाती है। इस सबध में आजतक के अनुभव के आधार पर विशेषज्ञो ने यह मत कायम किया है कि लोकमत और शिक्षण द्वारा अलगाव करने पर जोर देना अच्छा है। जबरदस्ती के उपाय बिलकुल छोटे देश मे अथवा द्वीप मे व्यावहारिक सिद्ध होसकते है, किसी विशाल देश मे नहीं।

(६) जांच (सर्वे)

प्रत्येक रोगग्रस्त हिस्से की व्यवस्थित जाच होनी चाहिए। (१) रोगमान और (२) वहां रोग-प्रसार के विशिष्ट कारणो की निश्चित कल्पना हो जानी चाहिए।

यह जाच तीन प्रकार की होती है। रोगग्रस्त हिस्से में बीच-बीच में कुछ गांव लेकर नमूने के लिए जाच की जाती है (सैपल सर्वे)। उससे सारे हिस्से की साधारण कल्पना हो जाती है। दूसरी जाच (कसेन्ट्रेटेड-सर्वे) में प्रत्येक रोगी जांचा जाता है। उसके लिए कार्यकर्ताओ का दल चाहिए और वक्त भी काफी चाहिए। तीसरी तरह की जाच खास मौको पर मुख्य रूप से सशोधन या अध्ययन के लिए की जाती है। ऐसी जाच में किसी खास भाग के प्रत्येक व्यक्ति की सपूर्ण शास्त्रीय रीति से परीक्षा की जाती है। उन हिस्सो का कई वर्ष बराबर अवलोकन और फिर-फिर जाच चालू रहती है। ऐसी जाच विशेष मौको पर ही सभव होती है (एपिडिमिआलोजिकल सर्वे)

बाईसवां प्रकरण

कोढ़ और गांव

जैसे क्षय शहरो—उद्योग-केद्रो मे पाया जानेवाला रोग है, वैसे ही कोढ खास कर देहातो में पाया जाता है। जैसे शरीर के सर्वव्यापी अवयव त्वचा और मज्जातंतु मे यह फैलता है वैसे ही देशव्यापी गावो में इसका फैलाव है। संस्कृति की विशिष्ट अवस्था और रहन-सहन के साधारण सुधार के परिणाम पर यह निर्भर करता है, इसलिए प्रत्येक गांव का सुधार हुए बिना इसकी जड जाना कठिन है। इससे कोढ का प्रश्न गावो के सामाजिक, आर्थिक और आरोग्य सबंधी प्रश्नो के साथ बेतरह जुडा हुआ है।

देश से यदि इसे निकाल भगाना है तो हर गाव को इस समस्या के हल करने का काम गाव में ही शुरू करना चाहिए, तभी इस की रोक-थाम सभव है। कोढ का किला कहिए, गढ कहिए, गाव है। वही उसकी जड खोदनी चाहिए।

गावो मे कोढ के बारे मे कितनी ही मूर्खतापूर्ण रूढिया फैली हुई है। 'छूत की क्या बात है जी, किस्मत मे लिखा था हो गया' यह बराबर सुना जाता है। व्यभिचार से अपना रोग दूसरे के पल्ले बंध जाता है और खुद को मुक्ति मिल जाती है, यह माननेवाले भी पाये जाते है। उन्हे इसका भेद नही मालूम रहता कि सार्सगिक रोगियो से अधिक डरना चाहिए या अपग और शक्ल बिगडे हुए लोगो से ? छोटे बच्चो को रोगियो के पास खेलने को छोडकर बाहर काम के लिए जाते उन्हे कोई दुविधा नही होती। कोढी के वश में औरो के साथ शादी-विवाह होते रहने के अनेक उदाहरण दिये जा सकते है।

चाहिए। प्रत्येक गाव में, या गाव बडा हो तो प्रत्येक जाति मे, प्रतिबधक कम या कम-से-कम एक आरोग्यदूत—चौकीदार का होना जरूरी है। इसका काम होगा कि खास गाव मे कोढ को बढने न देना, उसे जड से नष्ट करना। उसे नीचे लिखी बाते करनी चाहिए —

१—जितने कोढी हो सबकी खबर रखना। इसमे निकट के उपचार-केंद्र की अथवा दूसरे डाक्टरो की सहायता लेना। गाव के सब कोढियो की व्यवस्थित सूची रखना।

२—उसमें से सौम्यकुष्ठ की लिस्ट अलग करना। उसे किससे कैसे रोग लगा इसका पता लगाने का प्रयत्न करना। उस असांसर्गिक रोगी से और दूसरो को रोग न होने पावे इसकी कोशिश करना। सब सौम्य-कुष्ठ के रोगियो को उपचार के लिए ले जाना। जो इलाज न करावे उन्हें जाति बाहर का दड दिलवाना।

३—सासर्गिक रोगियो का खाना अलग रखना। उन्हे अलग रखने का प्रयत्न करना। उनसे दूसरो को रोग न लगने पावे इसकी खूब खबरदारी रखना। छोटे बच्चो का तो पूरा-पूरा बचाव करना। ऐसे रोगियो को भी इलाज के लिए ले जाना। उनके सब कुटबियो की हर छठे महीने जाच करवाना।

४—गाव के सार्वजनिक आरोग्य को सुधारने और इस रोग के बारे में लोगो को जानकारी कराने का प्रयत्न करना। जो रोगी अच्छे हो गये है उन्हे प्रचारक बनाने का अच्छा उपयोग हो सकता है।

५—कोढियो को गाव में नीचे लिखे काम नही करने देने चाहिए—

(१) अन्न और वस्त्र बनाने बेचने का काम।

(२) घर का काम-काज, बच्चो का पालन और शिक्षण।

प्रकरण २३ वां

कोढ़ संबंधी कुछ उल्लेखनीय संस्थाए

दि इंटरनेशनल लेप्रसी कांग्रेस

दुनिया मे कोढ के सबध मे अधिकार पूर्वक शास्त्रीय निर्णय करनेवाली यह अकेली सस्था है। ससार के भिन्न-भिन्न देशो मे साधारणतः हर पाचवे साल सब देशो के प्रतिनिधि-कुष्ठवेत्ता (लेप्रालाजिस्ट) इकट्ठे होते है, उस समय तक की शोधो और अनुभवो की चर्चा करते है; उत्तमोत्तम निबध पढे जाते है और अत मे प्रस्ताव रूप से कार्यकर्ताओ की स्वीकृति के लिए निर्णीत मत प्रकट किया जाता है। १९३१ मे मनिला (फिलिपाइस) मे कांग्रेस हुई थी। उसके बाद १९२८ मे काहरा (इजिप्ट) में ५ वा अधिवेशन हुआ। उसमे ५० देशो से लगभग ३०० कुष्ठ रोग के जानकार जमा हुए थे। इस कांग्रेस के अब तक ५ अधिवेशन हुए है। इसकी ओर से 'दि इटरनेशनल जर्नल आफ लेप्रसी' नामक त्रैमासिक पत्र निकलता है। इस सस्था के निर्माण मे 'अमेरिकन लेप्रसी फाउडेशन' से विशेष सहायता मिली है।

दि मिशन टु लेपर्स

संसार के अनेक देशो में अनेक वर्षों से निष्ठा और सेवा-भाव से कोढियो के लिए बराबर काम करनेवाली 'दि मिशन टु लेपर्स' नामक सस्था है। १८७४ मे डब्लू. सी. बेली ने इसकी स्थापना की थी। बेली उस वक्त अम्बाला (पजाब) मे थे और अपनी फुर्सत का वक्त कोढ़ियो के प्रश्न के विचार मे लगाते थे। उनके पत्र से मांकस्टाउन (डब्लिन) की तीन कुमारिकाओ ने उन्हे हर साल ४५० रुपये इकट्ठा करके इस काम मे खर्च करने को भेजने का निश्चय किया। उनकी कोशिशो का नतीजा यह हुआ कि पहले साल के अत मे बजाय ४५०

करता है। उसमें से आधी रकम सरकार से सहायता-स्वरूप, एक तिहाई दूसरे देशो से सहायता और बाकी भारतीय जनता से मिलती है। आरम्भ से अब तक इस काम में मिशन ने १५ करोड रुपये से ज्यादा खर्च किये है। हिंदुस्तान का प्रधान कार्यलय पुरुलिया (बिहार)मे है।

लेप्रसी रिलीफ असोसियेशन—इण्डियन कौंसिल

१९२४ में लदन में लेप्रसी रिलीफ असोसियेशन की स्थापना हुई और उसकी हिंदुस्तानी शाखा—इडियन कौसिल की साल भर बाद १९२५ में। हिन्दुस्तान में लोग रोगियो की दीन दशा से परिचित थे। इसलिए जब इडिया कौंसिल की स्थापना के बाद फड के लिए पब्लिक अपील निकली तो राजा महाराजा और जनता—सब ने बडी उदारता से उसका समर्थन किया। २०२५००० रुपया स्थायी कोष मे जमा हो गया, और उससे मिलनेवाली १२२००० रुपये की सालाना रकम असोसियेशन की उद्देश्य-पूर्ति के लिये खर्च होने लगी। बीच में एक्सचेंज की दर के कारण इस आय मे ११०००) सालाना की कमी हो गयी। पर आगे चल कर सिलवर जुबिली फड में से ३१२०००) की सहायता मिल जाने से वह कमी पूरी हो गयी।

मर्यादित साधनों से अधिक से अधिक फायदा उठा लेने के लिए इस काम के तीन हिस्से किये गये हैं—(१) इस विषय के शोध अनुसधान के लिये प्रेरणा और प्रोत्साहन देना, (२) रोग की उत्पत्ति, प्रतिबध और उपचार सबधी यथार्थ ज्ञान लोगो में फैलाना, और (३) रोगी के आधुनिक उपचार पाने का प्रबध करना। यह कार्यक्रम अमल मे लाने का काम मध्यवर्ती कौंसिल और प्रांतीय शाखाओ में बांट दिया गया है। अनुसधान, प्रचार और अनुभवी डाक्टर सिखा कर तैयार करना इत्यादि सर्व प्रांतीय उपयोग सबधी जिम्मेदारी मध्यवर्ती कौंसिल

सर्च हुए। उपयुक्त जानकारी प्राप्त करने के बाद १९३१ में सर्वे पार्टी विसर्जित कर दीगई। कोढ रोकने के प्रभावशाली उपाय के अनुसधान का काम इस वक्त बगाल और मद्रास के शहरी हिस्सो तथा गावो मे जारी है।

प्रातीय और स्थानीय सब शाखाओ के उपचार के प्रबध का काम उनकी आमदनी के अनुसार चलता है। सब देशो मे कुल १००० उपचार केन्द्र है। उनमे काफी रोगी उपचार के लिए आते है। हर शाखा की यह रिपोर्ट है कि नियमित और अधिक समय तक इलाज कराने पर उचित सुधार होता है। हजारो रोगियो को योग्य उपचार मिलता है और सुधरा हुआ रोगी बहुतेरे हताश भाइयो को केन्द्रो में भेजने का कारण बनता है, यह सुचिन्ह है। इसकी वजह से हिंदुस्तान से कोढ को नेस्तनाबूद करने की कोशिश मे कामयाबी की उम्मीद होने लगी है।

क्युलिन (फिलिपाइन्स)

इस द्वीप मे फिलिपाइस के सब रोगी अलग कर जमा कर दिये गये है। अमेरिकन और फिलिपाइन दोनो सरकारो ने मिल कर वहा एक आदर्श सस्था बना दी है। दुनिया की इस सबध की यह एक उत्तम सस्था है। अनुसधान के काम मे इसका खास स्थान है।

कुछ उल्लेखनीय व्यक्ति

फादर डैमियन—यह बेलजियन पादरी थे। इनका मूल नाम था जोसेफ डिव्यूस्टर। इनका जन्म ३ जनवरी १८४० को ट्रेमेल में हुआ था। रोजगार मे लगने के इरादे से इन्होने तालीम पायी थी। लेकिन १८ वर्ष की उम्र मे यह पादरी बन गये और डैमियन नाम पडा।

यह नायब पादरी होकर काम कर रहे थे कि इनके एक पादरी भिन्न पैसिफिक द्वीप में बीमार पडे। उनकी जगह यह काम करने गये। हवाई द्वीप की राजधानी होनोलूलू मे मार्च १८६४ में पहुचे। आरम्भ